विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर (म. प्र.)

वर्ष : २०

अंक : ४

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर–नवम्बर–दिसम्बर

* १९८२ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

वर्ष २०

अंक ४

एक प्रति २।)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

-।०।-

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त
कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल :- नरकेसरी प्रेस, रायपुर- ४९२००१ (म० प्र०)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २०] अक्तूबर–नवम्बर–दिसम्बर [अंक ४

* १९८२ *

जीवन्मुक्त कौन ?

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ।।

--साधु पुरुषों द्वारा इस शरीर के सत्कार किये जाने पर और दुर्जनों से पीड़ित होने पर भी जिसके चित्त का समान भाव रहता है, वह मनुष्य जीवन्मुक्त माना जाता है ।

--विवेकचूड़ामणि, ४४१

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

१७१९ टर्क स्ट्रीट, सैन फ्रांसिस्को,
२८ मार्च, १९००

प्रिय मेरी,

यह पत्र तुम्हें यह जताने के लिए लिख रहा हूँ कि 'मैं बहुत खुश हूँ।' यह नहीं कि मैं किसी धूमिल आशावाद से ग्रस्त होता जा रहा हूँ, बल्कि दुःख झेलने की मेरी क्षमता बढ़ती जा रही है। मैं इस संसार के सुख-दुःखरूपी महामारी की दुर्गन्ध से ऊपर उठता जा रहा हूँ; उनका अर्थ मेरे लिए मिटता जा रहा है। यह संसार एक स्वप्न है। यहाँ किसी के हँसने-रोने का कोई मूल्य नहीं। वह केवल स्वप्न है, और देर या सबेर अवश्य टूटेगा। वहाँ तुम लोगों के क्या हाल-चाल हैं? हैरियट पेरिस आनन्द मनाने जा रही है। वहाँ मेरी उससे अवश्य भेंट होगी। मैं एक फ्रेंच डिक्शनरी कण्ठाग्र कर रहा हूँ। मैं कुछ धन भी अर्जित कर रहा हूँ, सुबह-शाम कठिन परिश्रम करता हूँ, फिर भी अच्छा हूँ। नींद अच्छी आती है, हाजमा भी अच्छा है। पूर्ण अनियमितता है।

तुम पूर्व की ओर जा रही हो। आशा है, अप्रेल के अन्त में मैं शिकागो आऊँगा। यदि न आ सका, तो पूर्व में तुम्हारे जाने के पहले तुमसे जरूर मिलूँगा।

मैक्किंडली परिवार की लड़कियाँ क्या कर रही हैं?

चकोतरों की पुष्टई खा रही हैं और मोटी हो रही हैं। चलते रहो, जिन्दगी तो एक स्वप्न है। क्या तुम इससे खुश नहीं हो? बाप रे! वे शाश्वत स्वर्ग चाहते हैं। ईश्वर को धन्यवाद है कि सिवा उसके और कुछ भी शाश्वत नहीं है। मुझे विश्वास है उसे केवल ईश्वर ही सहन कर सकता है--शाश्वतता की यह बकवाद!

सफलता धीरे धीरे मुझे मिलनी शुरू हो चुकी है, वह अभी और भी अधिक मिलेगी। फिर भी चुपचाप रहूँगा। अभी तुम्हें सफलता नहीं मिल रही है, इसका मुझे दुःख है, मतलब मैं दुःखित अनुभव करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, क्योंकि मैं किसी भी वस्तु के लिए अब दुःखी नहीं हो सकता। मैं उस शान्ति को प्राप्त कर रहा हूँ, जो बुद्धि के परे है, जो न सुख है न दुःख, बल्कि इन दोनों से ही ऊपर है। 'मदर' से यह कह देना। पिछले दो वर्षों में मैं जिस शारीरिक और मानसिक मृत्यु की घाटी से गुजरा हूँ, उसी ने मुझे यह प्राप्त करने में सहायता दी है। अब मैं उस 'शान्ति', उस शाश्वत मौन के निकट आ रहा हूँ। अब मैं जो चीज जिस रूप में है, उसे उसी रूप में देखना चाहता हूँ, उस शान्ति के भीतर, अपने परम रूप में। 'जो अपने भीतर ही आनन्द पाता है, जो अपने भीतर ही इच्छाओं को देखता है, वस्तुतः उसी ने अपने जीवन का पाठ पढ़ा है।' यही है वह महान् पाठ, जिसे अनेक जन्मों, स्वर्गों-नरकों में से होकर हमें सीखना है--कि अपनी आत्मा के परे कुछ भी

याचना करने, इच्छा करने के लिए नहीं है। 'जो सबसे बड़ी वस्तु मैं प्राप्त कर सकता हूँ, वह आत्मा है।' 'मैं मुक्त हूँ', अतः सुखी होने के लिए मुझे अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। 'अनन्तकाल से अकेला, चूँकि मैं मुक्त था, अतः मुक्त हूँ और सदा रहूँगा भी।' यह वेदान्त मत है। इतने समय तक मैं सिद्धान्त का प्रचार करता रहा, लेकिन ओह! कितने आनन्द का विषय है प्यारी बहन मेरी, कि इसे मैं अब प्रत्येक दिन अनुभव कर रहा हूँ। हाँ, मैं अनुभव कर रहा हूँ। 'मैं मुक्त हूँ।' 'एकम्, एकम्, एकमेवाद्वितीयम्।'

सच्चिदानन्दस्वरूप,

विवेकानन्द

पुनश्च--अब मैं सच्चा विवेकानन्द बनने जा रहा हूँ। कभी तुमने बुराई का आनन्द लिया है? हा! हा! ओ भोली लड़की! तू क्या कहती है कि सब कुछ अच्छा है! बकवास! कुछ अच्छा है, कुछ बुरा है। मैं अच्छे का भी आनन्द लेता हूँ और बुरे का भी। मैं ही जीसस था और मैं ही जूडास इस्केरियट। दोनों ही मेरी लीला हैं, दोनों ही मेरे विनोद। 'जब तक द्वैतभाव है, भय से तुझे मुक्ति नहीं मिलेगी।' शुतुरमुर्गवाला तरीका?--बालू में अपना सिर छिपा लेना और सोचना कि तुम्हें कोई देख नहीं रहा है! सब अच्छा ही अच्छा है! साहसी बनो और जो भी आये उसका सामना करो। अच्छा आये, बुरा आये दोनों का स्वागत है, दोनों ही मेरे लिए खेल हैं। ऐसी कोई भलाई

नहीं, जिसे मैं प्राप्त करना चाहूँ, ऐसा कोई आदर्श नहीं, जिसे पकड़ लेना चाहूँ, ऐसी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं जिसे पूरा करना चाहूँ। मैं हीरों की खान हूँ, अच्छे और बुरे की कंकड़ियों से खेल रहा हूँ। बुराई, तुम्हारे लिए अच्छा है कि मेरे पास आओ; अच्छाई, तुम्हारे लिए भी अच्छा है कि मेरे पास आओ। यदि ब्रह्माण्ड मेरे कान के पास भी भहराकर गिरता है, तो इससे मुझे क्या ? मैं वह शान्ति हूँ, जो बुद्धि के परे है। बुद्धि तो केवल हमें अच्छे और बुरे का ज्ञान देती है। मैं उससे परे हूँ मैं शान्ति हूँ।

वि०

जय योगीश्वर

"श्री"

(राग-केदार : ताल-तीनताल)

जय योगीश्वर त्रिभुवन-वन्दन।
भुवनजयी भुवनेश्वरि-नन्दन॥ ध्रुव॥
ध्यानमग्न तुम परम उदासी
नर-ऋषि आये बन जगवासी।
कृपा-समीरण आज उठावे
ब्रह्म-जलधि में लीला-स्पन्दन॥१॥
वीर विवेकी अमित शक्तिधर
तेजपुंज तनु कोमल अन्तर।
दयानिधे प्रभु - लीलासहचर
हरो नाथ भवभायाबन्धन॥२॥

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (८)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बँगला मासिक 'उद्बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है।--स०)

स्थान–रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, काशी

१३ जुलाई, १९२०

बरामदे में आते समय बाबाजी के जूते देख महाराज बोले, "इतने बड़े पैर और किसके हो सकते हैं? ये जरूर बाबाजी के होंगे!" फिर इस सन्दर्भ में ठाकुर का प्रसंग लाकर कहने लगे, "ठाकुर कहा करते कि शरीर के लक्षण देखने पर सब पता चल जाता है। वे हमें वस्त्र उतरवाकर देखते, पट्टी से अंग - प्रत्यंग नापते, हाथ तौलकर वजन देखते। व्यक्ति किस प्रकार का है यह वे उसके शारीरिक लक्षण देखकर भाँप लेते थे। व्यक्तियों की अलग अलग श्रेणियाँ थीं, दरजे थे, परन्तु ठाकुर के पास सभी के लिए स्थान था। हम लोगों में से शशी महाराज मद्रास में कुछ हद तक उस प्रकार किया करते। ठाकुर मानते थे इसलिए वे भी मघा-अश्लेषा नक्षत्र में किसी को पत्र नहीं लिखते--यहाँ तक ख्याल रखते कि ऐसे समय पत्र न पहुँचे, जब मघा या अश्लेषा रहे। किन्तु स्वामीजी (विवेकानन्दजी) के साथ अधिक मेल-मिलाप करने के फलस्वरूप मैं यह सब अधिक नहीं मानता था।

"स्वामीजी कितने ही सारे लोगों को अपने साथ ठाकुर के पास ले आते। देखकर ठाकुर कहते, 'तू कैसे कैसे लोगों को ले आता है! कोई बहरा है तो कोई लँगड़ा! तू आदमी नहीं पहचानता। ऐसे ऐरे-गैरे लोगों को मत लाया कर।'

"स्वामीजी सदा दुर्बलों की सहायता करते। कहते, 'जो जितना दुबल है, उसकी उतनी अधिक सहायता करो। ब्राह्मण के लड़के के लिए अगर एक पण्डित की जरूरत हो तो अछूत के लड़के के लिए चार पण्डित नियुक्त करो।' कैसी विलक्षण बात कहते थे देखो तो!

"एक बार ठाकुर किसी भक्त महिला पर बड़े नाराज हो गये। सबसे कह दिया, कोई उसके घर मत जाना, कोई उसके हाथ का मत खाना। उसे भी दक्षिणेश्वर आने से मना कर दिया। जब ठाकुर ने उस पर सचमुच ही इतना रुष्ट हो मना कर दिया, तब भला किसमें इतना साहस हो कि उसके यहाँ जाय? किन्तु स्वामीजी ने महापुरुषजी (शिवानन्दजी) को बुलाकर कहा--चलो टहल आएँ। टहलते हुए वे उसी महिला के घर पर आ उपस्थित हुए। आते ही बोले--'×-माँ, खाने को दो, हम खाएँगे।' वे तो आनन्द से अधीर हो उठीं। फिर सामान मँगवाकर रसोई बनायी और उन्हें खिलाया। वहाँ से भोजन करके लौटकर ठाकुर से कहते हैं--'×-माँ के घर जाकर खा आये।' ठाकुर बोले, 'यह क्या रे? मैंने मना किया और तू जाकर खा आया!'

स्वामीजी बोले, 'क्यों न खाऊँ ? उन्हें यहाँ आने के लिए भी कह आया।'

"हाजरा के लिए स्वामीजी एक दिन ठाकुर को पकड़ बैठे। ठाकुर उस समय काशीपुर में थे। किसी तरह छोड़ते ही नहीं थे। कह रहे थे, 'उसका कुछ उपाय कर दो, उस पर थोड़ी कृपा करो।' ठाकुर बोले, 'इस समय कुछ नहीं होगा, जाओ। मृत्यु के समय उसका हो जाएगा।' ठीक वैसा ही हुआ। कृपा-वृपा पर स्वामीजी भीतर ही भीतर खूब विश्वास करते थे।

"लाटू महाराज (अद्भुतानन्दजी) चाहे जब सो जाते थे, इसलिए ठाकुर एक बार बड़े नाराज हुए। उन्हें भगा देना चाहा। अन्त में स्वामीजी ने बीच में पड़कर सारा बखेड़ा मिटा दिया। इसीलिए लाटू महाराज कहा करते थे, 'अगर सच्चा गुरुभाई है तो विवेकानन्द !'

"एक बार एक लड़का मठ में रहने के लिए आया। पर सभी ने विरोध किया। स्वामीजी बोले, 'ठाकुर सबका अन्तर देख सकते थे, इसीलिए किसी को रखने या न रखने के बारे में उनका मत ठीक निकलता था। पर मैं तो किसी का अन्तर नहीं देख पाता, इसलिए मैं सभी को अवसर देने के लिए तैयार हूँ। तुम यदि ठाकुर की तरह अन्तरंग देखना जानते हो तो कहो, इसे न रखा जाए।' फिर प्रत्येक का अलग अलग मत लिया जाने लगा। मुझसे पूछा गया। मैं बोला, 'मैंने अच्छी तरह लक्ष्य किया है कि ठाकुर जिसे नहीं रखना चाहते, वह

यहाँ कभी नहीं रह सकता। अतः जो रहने लायक होगा, वही यहाँ रहेगा--जो जाने लायक होगा, वह चला जाएगा।' मेरी बात पर स्वामीजी बोले, 'तूने ठीक कहा, बड़ी सुन्दर बात है!' वह लड़का कुछ दिन रहकर चला गया। जाते समय चोरी भी करता गया।

"गिरीशबाबू जैसे लोग तक ठाकुर के पास स्थान पाते थे। ठाकुर सभी के साथ मेल बनाये रखकर चल सकते थे। हम लोग क्या करते हैं? -- अपने ही ढंग से हर एक को गढ़ना चाहते हैं। परन्तु वे जो जहाँ हो वहीं से उसे ऊपर उठाने के लिए सहायता देते थे। किसी को अपने जैसा न बना सकते, तो निराश नहीं होते थे। एक एक जन के साथ ठाकुर एक एक विशेष भाव स्थापित करते और उसे बराबर निभाया करते। हँसी-विनोद के भीतर से खूब शिक्षा देते। अहा, वे यथार्थ आचार्य थे! ऐसे आचार्य कहाँ मिलते हैं? स्वामीजी भी बड़े विनोदरसिक थे। एक दिन मैं एक छुरी लेकर कुछ कर रहा था कि छुरी का सामने का छोर टूट गया। इस पर मैं मन मसोसकर बैठा रहा। सुनकर स्वामीजी बोले, 'छुरी तो इसी प्रकार जाएगी, उसे हैजा या वात-कफ का रोग तो होगा नहीं, बात सुनकर मैं हँस पड़ा। कैसा विलक्षण कहा देखो!

"माँ अपने बच्चे को जो सिखाती है, उसे बच्चा कितने दृढ़ रूप से सीखता है! माँ नहीं कहती कि मैं सिखा रही हूँ। पर माँ की बातचीत के भीतर से बच्चे

की सबसे अच्छी शिक्षा हो जाती है। उनमें एक प्रेम का सम्बन्ध जो होता है। जिन्हें आचार्य होना है, उन्हें अपने मन को, जिसे शिक्षा देनी हो उसके मन के साथ एक कर लेना होगा। तभी शिक्षार्थी को लाभ होगा।

"एक बार जबलपुर से कोई सज्जन ठाकुर के पास आये थे। वे बड़े पण्डित थे—एम. ए. थे। वैसे थे वड़े सरल, पर नास्तिक थे। ठाकुर के साथ खूब तर्क किया। इधर कहते थे कि मन में वड़ी अशान्ति है, पर भगवान् से प्रार्थना नहीं करना चाहते थे, क्योंकि भगवान् हैं या नहीं इसका तो कोई प्रमाण नहीं है न! ठाकुर बोले, 'देखो, यह कहकर प्रार्थना करने में तो तुम्हें कोई आपत्ति नहीं हो सकती न कि यदि (भगवान् कहकर) कोई हो तो मेरी बात सुने? ऐसा कहते हुए प्रार्थना करने से तुम्हारा भला होगा।' वे सज्जन काफी समय तक चुप रहकर सोचने लगे। अन्त में बोले, 'नहीं, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है।' ठाकुर ने कहा, 'ऐसा करने के वाद फिर मेरे पास आना।' वाद में उस सज्जन को देखा — अव वह पहले का आदमी नहीं रह गया था। ठाकुर के चरण पकड़कर रोते हुए कह रहा था, 'आपने मुझे बचा लिया!'

"स्वामीजी ने एक बार स्पर्श करके किडी* के मन

*सिगारवेलु मुदलियार नामक मद्रासी अध्यापक। ये कई बार फल-मूल खाकर रहते थे इसलिए स्वामीजी हँसी में उन्हें 'किडी' कहकर पुकारते थे। तमिल भाषा में 'किडी' का अर्थ है पक्षी।

में ईश्वर-विश्वास सचारित कर दिया था। किडी बड़ा नास्तिक था। कभी कभी स्वामीजी के अन्दर एक तीव्र शक्ति प्रकट हुआ करती थी। उस समय वे किसी का स्पर्श कर उसके भीतर धर्मभाव प्रविष्ट करा देते थे।

"और एक बार एसा हुआ। काशीपुर के बगीचे में शिवरात्रि की रात को सब ध्यान में बैठे। ध्यान करते हुए स्वामीजी ने एक से कहा, 'जरा मेरे घुटने को छू तो।' ज्योंही उसने छुआ, त्योंही वह गहरे ध्यान में निमग्न हो गया। ठाकुर सब समझ जाते थे। वे बोले, 'नरेन को बुला लाना तो।' स्वामीजी के निकट आते ही बोले, 'यह क्या कर रहा था ? पहले जमा कर, तभी तो खर्च कर सकेगा ! तू तो जमा करने के पहले ही खर्च कर रहा है रे !'

"स्वामीजी सचमुच ही दूसरों की सहायता कर सकते थे। उनके पास ऐसी कोई भी गोपनीय वस्तु नहीं थी, जिसे वे दूसरे को नहीं दे सकते हों। हम लोगों के लिए तो यहीं पर मुश्किल हो जाती है। हमें यही भय रहता है कि कोई हमसे बड़ा न बन जाय। किन्तु वे इतने महान् थे, इतने उच्च थे कि उन्हें यह भय नहीं था। उनमें ईर्ष्या नहीं थी। वे कहते थे, 'जो जिस स्थान पर है, उसकी वहीं सहायता करो; जिसे जिस विषय का अभाव है, उसे उसी विषय से पूर्ण करो। यह न कर सको तो जबरदस्ती उसे अपने जैसा बनाने की कोशिश मत करो।'

"ठाकुर कैसे अपूर्व ढंग से अपने उपदेश द्वारा प्रत्येक के अभाव को पूर्ण कर देते थे ! वे कहते थे, 'एक ही सब्जी को माँ कई ढंग से पकाती है। सभी लड़कों को एक ही चीज न देकर जिसके पेट के लिए जो सहन हो उसे वही खिलाती है।' ठाकुर प्रत्यक्ष आचरण के समय स्वयं ऐसा ही करते थे। एक बार योगीन स्वामी (योगानन्द) ने कहीं पर ठाकुर की निन्दा सुनकर भी कुछ नहीं कहा, चुपचाप सब सुन लिया । ठाकुर के पास आकर जब उन्होंने यह बात कही, तो ठाकुर बोले, 'मेरी निन्दा की गयी और तू चुपचाप सुन आया !' उन्हें बहुत भला-बुरा कहा । इसके कुछ दिन बाद एक दिन निरंजन स्वामी (निरंजनानन्द) नाव में बैठकर दक्षिणेश्वर आ रहे थे । नाव में कुछ लोग ठाकुर की निन्दा करने लगे । सुनते ही वे उठे और दो पैरों से दो ओर दबाव डालते हुए नाव को हिलाते हिलाते बोले, 'तुम लोग ठाकुर की निन्दा करते हो ! मैं अभी इस नाव को डुबो दूँगा —— देखूँ कौन मुझे रोकता है !' सब लोग थरथर काँपने लगे । उनके हाथ-पैर पकड़कर किसी तरह शान्त किया। यह बात सुनकर ठाकुर बोले, 'मूर्ख, वे लोग मेरी निन्दा कर रहे थे, इसमें तेरा क्या बिगड़ा ?' देखो कैसी विलक्षण बात है ! जिसके पेट में जो सहता है। ऐसे आचार्य कहाँ मिलेंगे !"

१४ जुलाई, १९२०

स्वामी तुरीयानन्दजी ने आज इस प्रकार वार्ता-

लाप शुरू किया--"एक बार बातचीत के सिलसिले में स्वामीजी ने कहा था, 'तुम लोग जिधर कहीं जाओगे, वहीं एक केन्द्र तैयार हो जाएगा।' यह तो तुम लोग देख ही रहे हो। उस समय मुझे मिसेस व्हीलर के पत्र की याद हो आयी। मेरे लन्दन में रहते समय मिसेस व्हीलर ने मुझे अपने यहाँ आकर रहने के लिए निमंत्रित किया था। मैंने स्वामीजी से जब वह बात कही, तो वे बोले, 'ठीक है, यह तो अच्छा ही है।' इसके बाद कुछ दिन तक मिसेस व्हीलर के यहाँ क्लास-वास हुए। मैं उन लोगों से कहता था, 'तुम लोग यह जो वेदान्त पढ़ रहे हो, इसे केवल पढ़ने से नहीं होगा; इसकी अनुभूति के लिए साधना चाहिए, उसके लिए उपयुक्त स्थान चाहिए।' फिर अच्छी निर्जन एकान्त जगह भी मिल गयी। समझो न, ठाकुर ने पहले ही से सब तैयार कर रखा है। एक स्त्री ने ढाई सौ एकड़ जमीन देनी चाही। मैंने कहा, 'मैं कैसे लूँ ?' × को वह बात बतलायी। वह उस समय भाषण देते हुए इधर उधर घूमता फिरता था। वह बोला, 'ठहरो मैं आता हूँ।' आकर कहा, 'अरे राम! भला ऐसी भी जमीन लेनी चाहिए !' पर मैं बोला, 'मुझे लगता है, इसे छोड़ना उचित नहीं।' स्वामीजी को तार किया गया। स्वामीजी उस समय कैलिफोर्निया में थे। उन्होंने वहाँ से तार द्वारा उत्तर भेजा--'जमीन ले लो।' तुम जानते ही हो, स्वामीजी कोई अवसर नहीं छोड़ते थे। जमीन की व्यवस्था हुई। स्वामीजी ने मुझे

लिख भेजा, 'तुम यहाँ चले आओ।' पर पहले से ही लोगों के पास ऐसी घोषणा की गयी थी कि मैं क्लास लूँगा, इसलिए उस समय मेरा जाना नहीं हो सका। फिर स्वामीजी आये। स्वामीजी के साथ हम लोग गये। स्वामीजी बीच में शिकागो के पास उतर गये। यही मेरी उनसे अन्तिम भेंट थी। जाते समय 'नमो नमः' किया--उनके वे शब्द आज भी मेरे कानों में बज रहे हैं।"

महाराज आगे कहने लगे--"हिप्नोटिज्म (सम्मोहन) है--माया का खेल है। तुमने हिप्नोटिज्म करते देखा है? किसी पर उसका प्रयोग कर जमीन पर तैरने कहो तो वह तैरने लगता है। महामाया ने हम सबको मायामुग्ध कर रखा है। विद्यामाया और अविद्यामाया--दोनों हिप्नोटिज्म है। एक के द्वारा दूसरी को नष्ट करना पड़ता है। विद्या अविद्या की विरोधी जो है। स्वामीजी का किस्सा जानते हो न? किसी मुसलमान के भोजन में से एक सियार कुछ खा गया। वे लोग सियार को बड़ा अपवित्र मानते हैं। उसने मुल्ला के पास जाकर व्यवस्था माँगी। मुल्ला ने कहा, 'कुत्ता सियार का दुश्मन है। अगर उस भोजन को फिर किसी कुत्ते से खिलवा सको तो वह शुद्ध हो जायगा!' (हास्य)। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश करना चाहिए।"

भक्त--विद्या को नष्ट करने के लिए किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता है क्या?

स्वामीजी——नहीं, 'वस्तु' में पहुँचा देने के बाद विद्या आप ही निरस्त हो जाती है। ठाकुर की वह तीन डाकुओं की कथा* याद है न?

---

* एक आदमी जंगल में से होते हुए जा रहा था। इतने में उसे तीन डकैतों ने आ घेरा। उन्होंने उसका सब कुछ छीन लिया। एक डाकू बोला, 'अब इस आदमी को जिन्दा रखकर क्या लाभ ?' ऐसा कहकर वह उसे खड्ग ले काटने आया। तब दूसरा डाकू बोला, 'नहीं इसके हाथ-पैर बाँधकर यहीं छोड़ चलो।' फिर डाकू उसके हाथ-पैर बाँध उसे वहीं छोड़कर चले गये। कुछ देर बाद उनमें से तीसरा डाकू लौट आकर बोला, 'अरे अरे! तुम्हें चोट लगी न? आओ, मैं तुम्हारे बन्धन खोल देता हूँ।' फिर उसके बन्धन खोल देकर डाकू बोला, 'मेरे साथ आओ। मैं तुम्हें मुख्य सड़क तक पहुँचा देता हूँ।' काफी देर बाद मुख्य सड़क आयी। तब डाकू बोला, 'इस रास्ते से चले जाओ — वह देखो तुम्हारा मकान दीख रहा है।' तब उस आदमी ने उस डाकू से कहा, 'महाशय, मुझ पर आपने बड़ा उपकार किया। चलिए, आप भी मेरे घर तक आइए।' डाकू बोला, 'नहीं, मैं वहाँ नहीं जा सकता। पुलिस जान जाएगी।' संसार ही यह अरण्य है। इस अरण्य में सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण डकैत हैं। वे जीव का तत्त्वज्ञान हर लेते हैं। तमोगुण जीव का विनाश करना चाहता है, रजोगुण उसे संसार में आबद्ध करता है, परन्तु सत्त्वगुण उसे रज और तम के हाथों से बचाता है। सत्त्वगुण का आश्रय मिलने पर काम-क्रोधादि तमोगुण के विकारों से रक्षा होती है। यद्यपि सत्त्वगुण तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त करा सकता, पर वह परमधाम में जाने के मार्ग पर जरूर पहुँचा देता है और कहता है — देखो, वह तुम्हारा घर दिखायी दे रहा है। जहाँ ब्रह्मज्ञान है, वहाँ से सत्त्वगुण भी काफी दूर ही है।

१५ जुलाई, १९२० (दोपहर ३ बजे)

आज वार्तालाप के प्रसंग में स्वामी तुरीयानन्दजी बोले--"उत्तरायण की बात महाभारत में है। भीष्म उत्तरायण के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। इसके द्वारा किसी निर्दिष्ट काल को महत्त्व नहीं दिया गया, अपितु भीष्म में 'इच्छामृत्यु' की शक्ति थी यही दिखाया गया है। उत्तरायण के बारे में कहते हुए शास्त्र किसी कालविशेष की बात नहीं कहते, अपितु तत्कालाभिमानी देवता की बात कहते हैं, यह तो सहज ही समझा जा सकता है। बड़े आदमियों का स्वागत करने के लिए जिस प्रकार लोग आगे जाते हैं, उसी प्रकार भिन्न देवता ब्रह्मलोक-गामी जीवात्मा को स्वागत करते हुए ले जाते हैं। एक घटना याद आ गयी। X-बाबू के पिता बीमार थे यह समाचार पाकर पिता के समीप उनके पहुँचने के पहले ही पिता की मृत्यु हो गयी। घर में प्रवेश करते ही X-बाबू ने एक ज्योतिर्मय पुरुष को देखा। उन्होंने मुझे पत्र लिखा। पहले उन्हें लगा कि सम्भवतः उनके पिता उन्हें देखने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हों, किन्तु फिर एकदम याद आया कि वे कोई अभिमानी देवता हो सकते हैं। पथ दिखाकर ले जाने आये होंगे। X-बाबू तो कुछ झूठ कहेंगे नहीं। वे वैसे आदमी ही नहीं हैं। फिर 'गीता' में भी कहा ही है --

'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥'१५।९

--अर्थात्, देह त्यागकर परलोकगमन करते समय, देह में अवस्थान करते समय या गुणसमन्वित होकर भोग करते समय--किसी भी समय--मोहग्रस्त व्यक्ति जीवात्मा को नहीं देख पाते; ज्ञाननेत्रवाले व्यक्ति देख पाते हैं।

"ये सब बातें हम समझ सकते हैं। स्वामीजी कहा करते थे, जिसने कोई भूतयोनि भी देखी है, वह पुस्तकी पण्डितों से काफी श्रेष्ठ है, क्योंकि उसे ऐसी सुविधा मिल गयी, जिससे परलोक के सम्बन्ध में कुछ धारणा हो।'"

शुक्रवार, १६ जुलाई, १९२० (दोपहर)

स्वामी तुरीयानन्दजी बोले--"आज जब भोजन करने बैठा, तभी समझ में आया कि आज रोटी खाना ठीक नहीं रहेगा, परन्तु फिर भी खाते खाते कुछ रोटियाँ खा ही डालीं। सोचो तो यह कैसा विलक्षण है--हम समझ रहे हैं कि यह काम करना अनुचित है किन्तु फिर भी वही कर बैठते हैं। महामाया की माया ऐसी ही है। फिर खाते खाते अच्छा भी लगने लगता है। वह किस्सा नहीं सुना ?--'खाते खाते अच्छा लग रहा है ?' कमाऊ लड़का खाने बैठा है। बूढ़ी माँ ने डरते हुए रसोई बनायी है। लड़का कहता है, 'माँ, यह क्या पकाया है ? छिः छिः ! इसे तो मुँह में नहीं डाला जाता।' घरवाली तुरन्त निकलकर कहती है, 'तुम क्या कह रहे हो? रसोई तो मैंने बनायी है।' 'आँ ! तुमने बनायी?' फिर थोड़ी देर में कहता है, 'खाते खाते अच्छा लग रहा है।' (सब हँसते हैं)।

"कितना भी करो, कुछ नहीं होता। लोग सिर्फ आशा के पीछे पागल बने घूमते फिरते हैं। बस ! श्रीमद्भागवत में है--

'आशा हि परमं दुःख नैराश्यं परमं सुखम्।
यत्कान्ताशं परित्यज्य सुख सुस्वाप पिंगला ।।'

--अर्थात्, आशा ही परम दुःख है और आशा का त्याग परम सुख। पिंगला नामक वेश्या कान्त की आशा त्याग-कर सुख की नींद सोयी थी।

"राजा जनक के राज्य में एक वेश्या रहा करती थी। एक दिन रात्रि के समय वह ग्राहक की प्रतीक्षा में बार बार घर के अन्दर-बाहर आना-जाना कर रही थी। रात के दो बज गये, तब भी कोई नहीं आया। अन्त में उसने आशा छोड़ दी। कहने लगी, 'मुझ-जैसी हतभागिनी समूचे राज्य में दूसरी नहीं है। हाय ! आशा के कारण मैंने कितना कष्ट भोगा ! जाने दो। अब आशा नहीं रखूँगी। अब जाकर सो जाऊँ।' ऐसा कहकर वह सो गयी। अवधूत निकट ही थे। उन्होंने आकर कहा, 'तुम सारी आशा छोड़कर सुख से सो रही हो। मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ--तुम मेरी गुरुतुल्य हो।' ऐसा कहकर वे चल दिये।

"मधुसूदन दत्त ने आशा के सम्बन्ध में सुन्दर लिखा है--

आशार छलने भुलि कि फल लभिनु हाय !
ताइ भाबि मने।

जीवन-प्रवाह बहि काल-सिन्धु पाने धाय,
फिराबो केमने ?
दिन दिन आयु हीन, क्षीण बल दिन दिन,
तबुओ आशार नेशा छुटिलो ना, एकि दाय !
रे प्रमत्त मन, मम कबे पोहाइबे राति ?
जागिबि रे कबे ?
जीवन-उद्यान तोर यौवन-कुसुम भाति
कतो काल रबे ?'

"अखबार में देखा मेस्टन साहब बड़े असमंजस में पड़ गये हैं। वे कह रहे हैं, हिन्दू समाज के ऊपर से इतना बड़ा बवण्डर चला गया, पर उसने न जाने कैसे सब कुछ अपने मे समाकर अपने 'स्वत्व' को बनाये रखा। इतनी जीवनीशक्ति उसमें कहाँ से आयी ? मुसलमानों ने तलवार के बल पर प्रचार किया, फिर भी वे कुछ कर नहीं सकें।

"हमारा ब्रह्म को लेकर कारबार है, हममें

* हाय ! आशा के छल में भूलकर मुझे क्या फल मिला ? --मैं मन में यही सोच रहा हूँ। जीवन का प्रवाह वेग से बहते हुए काल-समुद्र की ओर दौड़ता जा रहा है, उसे मैं कैसे लौटाऊँ ? दिनोंदिन आयु का क्षय हो रहा है, शक्ति क्षीण होती जा रही है, फिर भी आशा का नशा नहीं छूटा—यह कैसा संकट है। ऐ मतवाले मन ! वह रात कब कटेगी ? तू कब जगेगा ? तेरे इस जीवन-उद्यान में जवानी के फूलों की बहार आखिर कब तक रहेगी ?

जीवनीशक्ति क्यों न रहेगी ! साहब कह रहे हैं--हिन्दू लोग गणतंत्र शासन को भी अपने में अच्छी तरह से आत्मसात् कर लेंगे। उन्होंने सोचा था कि शायद इससे हिन्दू समाज काफी शिथिल हो जाएगा। पर वैसा होना कभी सम्भव भी है ?"

भक्त--वे कह रहे हैं कि यद्यपि हम कागज-पत्रों में लोगों को क्रिश्चन नहीं बना पा रहे हैं, फिर भी उनके अन्दर तो हमने क्रिश्चन भाव घुसा ही दिया है।

महाराज--उनकी राष्ट्रीयता की भावना आजकल इतनी प्रबल होती जा रही है कि न जाने कब ईसा मसीह को भी, उनके एशियावासी होने के कारण, खारिज कर देंगे। इस समय उनकी दार्शनिक धारणा यहीं आ पहुँची है कि कैसर-जैसे 'सुपरमैन' (अतिमानव) कैसे पैदा हों। इस 'सुपरमैन' के मारे क्या हुआ देखा न !

"X-बाबू का पत्र मिला। पुत्र की मृत्यु हो जाने पर मुझे पत्र लिखा। गीता में अर्जुन ने श्रीभगवान् से जो कहा था – 'यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्' यानी इन्द्रियों का शोषण करनेवाला शोक--वह बात उनका पत्र पढ़ने पर तीव्रता से प्रतीत हो रही थी। आजकल तंत्र का अध्ययन कर रहे हैं। उपनिषदों में जो तत्त्व के रूप में कहा गया, तंत्र में उसे व्यावहारिक जीवन में परिणत करने का प्रयत्न किया गया। तंत्र कई विषयों में उपनिषदों से भी ऊपर पहुँच गया है। तंत्र की उपासना बड़ी अपूर्व है। शक्ति को न मानता हो ऐसा कौन है !

ठाकुर कहा करते थे——अवतारादि भी शक्ति की उपासना कर उसे सन्तुष्ट करके ही धर्मप्रचार करते हैं।

"शंकराचार्य भी शक्ति को खूब मानते थे। शक्ति पर उन्होंने कितनी ही स्तव-स्तुतियाँ रची हैं। एक कथा है——नहीं जानते ? एक बार शंकराचार्य गंगास्नान कर लौट रहे थे। उस समय वे शक्ति को उतना नहीं मानते थे। शक्ति एक बूढ़ी का रूप धारण कर उनके पथ पर पड़ी रही। शंकर के निकट आते ही बुढ़िया ने अपना दुखड़ा रोया। ज्योंही शंकर ने सहायता करने के लिए उसका स्पर्श किया त्योंहि उनकी सारी शक्ति चली गयी। तब वे समझ गये कि यही शक्ति है। वे उसका स्तवन करने लगे। यही 'आनन्दलहरी' की उत्पत्ति की कथा है। स्तवन द्वारा शक्ति को प्रसन्न करने पर उन्हें शक्ति वापस मिली।

"महिम्नःस्तोत्र सभी स्तोत्रों में श्रेष्ठ है। कनखल में रहते समय मैं उसका नित्य पाठ करता था। आनन्दगिरि की टीका भी उस समय पढ़ी थी। पुष्पदन्त गन्धर्व था। शिव का निर्माल्य पैरों तले रौंदने के दोष से वह शापग्रस्त हुआ। फिर महिम्नःस्तोत्र का पाठ कर उसे उसका खेचरत्व पुनः प्राप्त हुआ। बड़ा अपूर्व स्तव है।"

०

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें --विलियम्स

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेख-माला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और मिशन, बेलुड़ मठ के संन्यासी हैं उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अंगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके सितम्बर १९७५ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। —स०)

सन् १८७४ के नवम्बर के शीघ्र ही बाद, सम्भवतः शम्भुचरण मल्लिक ही सबसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण को नाजरथ के ईसा के सम्बन्ध में बाइबिल से पढ़कर सुनाया था और बतलाया था। ईसा मसीह का जीवन श्रीरामकृष्ण को बहुत आकर्षक लगा और उनके विचार उस ईश्वर की सन्तान के व्यक्तित्व में केन्द्रित होने लगे। एक दिन श्रीरामकृष्ण यदु मल्लिक के दक्षिणेश्वर-स्थित उद्यान-भवन के बैठकखाने में बैठे हुए मरियम और शिशु यीशु के तैल-चित्र को बड़ी तल्लीनता से देख रहे थे कि इतने में एक दैवी उद्दीपना ने उन्हें अभिभूत कर लिया और उनका अन्तःकरण ईसा मसीह के विचार में पूरी तरह डूब गया। यद्यपि उनका लालन-पालन एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण-परिवार में हुआ था, दीर्घकाल तक उन्होंने हिन्दू-साधनाओं का अभ्यास किया था तथा हिन्दू आचार-विचार एवं परम्पराओं में पगे हुए थे,

फिर भी अब उन्होंने अपने आप को पूरी तरह ईसा और ईसाइयत के प्रेम के प्रति समर्पित कर दिया। इसने उनके भीतर के समस्त हिन्दू ढंग के सोचने और रहन-सहन के विचार को छाट दिया। लगातार तीन दिन उन्होंने इस प्रकार की भावावस्था में बिताये। अन्त में, तीसरे दिन की सन्ध्या के समय उन्हें ईसा के दर्शन हुए, जो उनके सम्मुख प्रकट हुए और उनका आलिंगन करके उनके भीतर समाहित हो गये। इस दर्शन से उन्हें यह विश्वास हो गया कि बुद्ध और कृष्ण के समान ईसा भी पूरी तरह से एक दिव्य अवतार थे और ईसाई धर्म भी एक पथ है, जिससे ईश्वर का साक्षात्कार मिल सकता है। ईश्वर तक पहुँचने के विभिन्न पथों की खोज में अब श्रीरामकृष्ण भारत की सीमा से बाहर अन्य धर्मों की ओर मुड़ रहे थे; और इस प्रकार उन्हें जो अनुभूतियाँ हुईं, उनसे अन्त मे वे यह घोषित कर सके––

"मुझे एक बार सब धर्म साधना पड़ा था––हिन्दू, इसलाम, ईसाई, इधर शाक्त, वैष्णव, वेदान्त, इन सब रास्तों से भी जाना पड़ा था, ईश्वर वही एक है––उन्हीं की ओर सब चल रहे हैं, भिन्न भिन्न मार्गों से।"[1]

उनका उद्देश्य किसी नये पन्थ का गठन करना नहीं वरन् इस बात की पुनः प्रतिष्ठा करना था कि सभी धर्मों का लक्ष्य उस ईश्वर का साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान

१. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा० १, पृ १९२ (तृ० सं०), रामकृष्ण मठ, नागपुर।

प्राप्त करना है ।

अत्यन्त उत्साही भक्तों के इस दावे पर कि श्रीरामकृष्ण ने उसी प्रकार ईश्वरानुभूति प्राप्त की थी, जिस प्रकार एक क्रिस्तान भक्त करता है तथा यह कि उनके हिन्दू धर्म से क्रिस्तान धर्म की ओर मुडते समय उनके व्यक्तित्व में पूरी तरह से परिवर्तन हो गया था एवं वे एक सच्चे क्रिस्तान बन गये थे--बहुत से क्रिस्तान धर्मशास्त्री आपत्ति करेंगे । यहाँ हम एक ऐसा ही विशिष्ट उद्धरण देते हैं--

"श्रीरामकृष्ण ने कभी चर्च केरिग्मा (Kerygma) (गॉस्पेल के उपदेशों की प्राथमिक उद्घोषणा) को नहीं सुना था; मनुष्य की पाशविकता, पाप का बन्धन और ईसा द्वारा उसकी मुक्ति--ये बातें उन्हें कदापि ग्राह्य नहीं थीं । उन्होंने ईसा को अपने भाव के अनुरूप, हिन्दू परम्परा में निमग्न हो एक संन्यासी की दृष्टि से देखा था ।"[२]

जो हो, पर इस अलौकिक अनुभूति का ही फल था, जैसा कि रोमाँ रोलाँ ने लिखा है--"परवर्तीकाल में ऐसा होता था कि भारतीय क्रिस्तान उनके भीतर साक्षात् ईसा की अनुभूति करके भावसमाधि में डूब जाते ।"[३]

---

२. श्रीमती नलिनी देवदास: 'श्रीरामकृष्ण' (दि क्रिश्चियन इंस्टीट्यूट फॉर दि स्टडी ऑफ रिलीजन एण्ड सोसायटी, बँगलोर-६), पृ० २५ ।

३. रोमाँ रोलाँ: 'दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण' (अद्वैत आश्रम, मायावती, १९४७), पृ. ८४ ।

रोमाँ रोलाँ के कथन को समझाने के लिए हम अपने पाठकों के सामने श्रीरामकृष्ण से विलियम्स [४] नाम के एक क्रिस्तान भक्त की प्रथम भेंट को रखते हैं। ये उन लोगों में से थे, जो श्री रामकृष्ण के पास कई बार आये थे।

विलियम्स भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में कहीं रहते थे। वे ब्राह्म-प्रचारक केदारनाथ चटर्जी के सम्पर्क में आये थे, जो उस क्षेत्र में अपने प्रवचनों के दौरे पर गये हुए थे। उनसे उन्हें पता लगा कि जब से केदारबाबू दक्षिणेश्वर के परमहंस के सम्पर्क में आये, तब से उनके विचारों और व्यवहार में काफी परिवर्तन आ गया था। स्वयं एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति होने के कारण मिस्टर विलियम्स ऐसे परमहंस के सम्बन्ध में और अधिक जानने को आतुर हो उठे। ब्राह्मसमाज की पत्रिकाओं में यदा-कदा परमहंस के सम्बन्ध में प्रकाशित खबरों ने उनकी उत्सुकता को और अधिक तीव्र कर दिया। अन्त में वे लम्बा रास्ता तय करके सीधे कलकत्ते में श्रीराम-कृष्ण के दर्शन के लिए आये। चूँकि गुड फ्राइडे का दिन नजदीक ही था इसलिए वे इस शुभ दिन के अवसर पर दक्षिणेश्वर के सन्त के प्रथम दर्शन के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने लगे।[५]

---

४. वे सम्भवतः किसी स्कूल में पढ़ाते थे और बाइबिल के अच्छे विद्वान् समझे जाते थे।

५. 'महात्मा रामचन्द्रेर वक्तृतावली' (बँगला), (श्री श्री राम-कृष्ण-समाधि-महापीठ, श्री योगोद्यान, कांकुड़गाछी; कलकत्ता) भा० २, तृ. सं०, पृ० ३८४-५।

गुड फ्राइडे के दिन दोपहर के करीब १ बजे, सम्भवतः १८८१ ईसवी[६] में, केदारनाथ के साथ विलियम्स दक्षिणेश्वर मन्दिर में पहुँचे और सीधे श्रीरामकृष्ण के कमरे के उत्तरी बरामदे में गये। विलियम्स भारी शरीर, गेहुँआ रंग, बड़ी बड़ी आँखोंवाले प्रौढ़ व्यक्ति थे। वे यूरोपीय वेशभूषा पहने हुए थे। अपने जूते और हैट को उतारकर वे दरवाजे के सम्मुख दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो गये और पूरी सम्भावना है कि केदारबाबू उनकी बगल में रहे होंगे। कमरे के भीतर श्रीरामकृष्ण भक्तों के छोटे से दल के साथ वार्तालाप कर रहे थे, जिसमें उनके अनन्य भक्त रामचन्द्र दत्त भी थे। मध्यम ऊँचाई एवं नाजुक स्वास्थ्यवाले, हल्की दाढ़ी-मूँछ, सुन्दर काले नेत्र और दिव्य आभा से दीप्त शिशुवत् मुख-

---

६. 'दि इंडियन मिरर' के २८ मार्च १८७५ के अंक में जब, केशवचन्द्र सेन ने पहली बार श्रीरामकृष्ण का उल्लेख किया तब ब्राह्म भक्त और रुचि रखनेवाले सामान्यजन श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में जान पाये। इसके शीघ्र बाद केदारनाथ चटर्जी उनसे परिचित हुए। रामचन्द्र दत्त श्रीरामकृष्ण से पहली बार १३ नवम्बर १८७९ को मिले थे। विलियम्स, जैसा कि हम जानते हैं, उनसे पहली बार एक 'गुड फ्राइडे' के दिन मिले। अक्षयकुमार सेन की 'पुँथि' के अनुसार यह भेंट २३ फरवरी १८८२ के आसपास हुई थी, जब जोसेफ कुक श्रीरामकृष्ण से मिले थे। किन्तु विलियम्स की प्रथम भेंट के समय रामचन्द्र दत्त का उपस्थित रहना, दूसरे अन्य पारिपार्श्विक प्रमाणों के साथ मिलकर, यह सूचित करता है कि यह प्रथम भेंट १८८१ के 'गुड फ्राइडे' के दिन हुई थी।

मण्डलवाले परमहंस ने नवागन्तुक को अत्यधिक प्रभावित किया।

उसी समय श्रीरामकृष्ण के सम्मुख बैठे श्रोताओं में से एक ने उनका ध्यान आगन्तुक की ओर आकृष्ट करते हुए कहा, "ऐसा लगता है कि वे साहब, जिनके बारे में केदारबाबू ने कहा था, आ गये हैं।" इन शब्दों से ऐसा लगा कि ठाकुर में अकस्मात् एक परिवर्तन आ गया। उनका मन उच्च आध्यात्मिक भाव में डूबने लगा। मानो अपने ऊपर नियंत्रण खोते हुए वे नवागन्तुक के स्वागत के लिए तेजी से बाहर आये।[७] उनकी धोती का एक छोर जमीन पर झूल रहा था, पर वे उससे बेखबर थे।

ज्योंही श्रीरामकृष्ण कमरे के बाहर निकले, विलियम्स उनके सम्मुख श्रद्धापूर्वक घुटनों के बल बैठ गये और श्रीरामकृष्ण के मुख की ओर ताकने लगे। उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। उन्होंने सन्त के चरणों को चूम लिया तथा अश्रुओं से उन्हें भिगो दिया।[८] दूसरी ओर

७. 'पुंथी' (पृ० ३७६-७) के अनुसार विलियम्स के आगमन की सूचना श्रीरामकृष्ण को भक्तों ने नहीं दी; वरन् उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण एकाएक बिना किसी कारण के मानो आवेग में आ गये और नवागन्तुक के स्वागत के लिए तेजी से बाहर आये। तथापि कोई अन्य प्रमाण इस बात की पुष्टि के लिए उपलब्ध नहीं हैं।

८ 'वक्तृतावली', भा० २, पृ० १३१ में इस घटना को रामचन्द्र दत्त ने इस प्रकार वर्णित किया है।

श्रीरामकृष्ण समाधिमग्न हो गये, उनका मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा, मानो चारों ओर आनन्द और शान्ति विकिरित करने लगा। इस घटना से अन्य भक्तगण अचरज में पड़ गये। वे शायद यह अनुमान तक न कर पाये कि उन दोनों के बीच क्या घट रहा था। कुछ समय बाद सहज होने पर श्रीरामकृष्ण विलियम्स को हाथ पकड़कर भीतर ले गये। उन्होंने विलियम्स के लिए फर्श पर एक चटाई बिछा दी और दूसरी पर स्वयं बैठ गये। दोनों चटाइयों के बीच के छोटे से अन्तर को दिखलाते हुए उन्होंने कहा, "देखो, मैंने बस एक अँगुली मात्र का अन्तर रखा है।" विलियम्स ने मुसकराते हुए उत्तर दिया, "महाशय, दोनों चटाइयों में भले ही अन्तर हो, पर मेरा हृदय तो आपके साथ जुड़ ही गया है।"[१]

विलियम्स श्रीरामकृष्ण के पास इस बात को निश्चित-रूप से जानने आये थे कि क्या किसी को ईश्वर का साक्षात् दर्शन हो सकता है। इस पहली ही मुलाकात में विलियम्स ने ऐसा कुछ अनुभव किया, जिसकी पूर्व में उन्होंने कोई कल्पना ही नहीं की थी; क्योंकि बाद में उन्होंने कई भक्तों को बतलाया था कि उन्हें श्रीरामकृष्ण के भीतर साक्षात् ईसा के दर्शन हुए थे। वास्तव में वे लगभग यह भूल गये थे कि वे एक हिन्दू

---

१. विलियम्स ने अजमेर में स्वामी अखण्डानन्दजी से भेंट होने पर यह बात कही थी। (स्वामी अखण्डानन्द : 'स्मृति कथा, बँगला, उद्बोधन, द्वि. सं., पृ. ६५-६)

सन्त के पास आये हैं। उन्होंने पाया कि उनके प्रिय इष्ट, उनके ईश्वर क्राइस्ट ने विभिन्न रंगों में श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व के माध्यम से अपने को उनके सामने प्रकट किया है। इस प्रकार वे पूरे समय वहाँ श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़े ही बैठे रहे।

इस महत्त्वपूर्ण भेंट के जो थोड़े से और बिखरे हुए तथ्य मिलते हैं, उनमें एक बात सर्वत्र मिलती है। वह यह कि कुछ प्रारम्भिक बातचीत के बाद, श्रीरामकृष्ण एक प्रकार से अचानक ही पूछ बैठे, "अच्छा, मेरे सम्बन्ध में तुम्हारी क्या धारणा है ? मैं कौन हूँ ?"

यह एक ऐसा प्रश्न था, जो श्रीरामकृष्ण अपने पास आनेवाले निष्ठावान् जिज्ञासुओं से यह जानने के लिए करते कि वह किस प्रेरणा से उनके पास आया है। इस प्रकार दूसरे का अपने प्रति विश्वास और ईश्वर के सम्बन्ध में उसकी धारणा को परख कर, श्रीरामकृष्ण प्रत्येक साधक के साथ एक विशेष आध्यात्मिक भाव रखते और ईश्वर की ओर जाने के लिए उसका मार्ग-दर्शन करते। वे उत्तर में दिये गये मात्र शब्दों को ही नहीं देखते, पर यह भी देखते कि जिज्ञासु ने अपनी सहज प्रवृत्ति से ऐसा उत्तर दिया है अथवा दूसरों के द्वारा प्रेरित हो ऐसा कहा है। श्रीरामकृष्ण का उद्देश्य यही होता कि जो जहाँ हो, वहीं से उसे उस परमलक्ष्य की ओर अग्रसित करा दें। तथापि विलियम्स उन थोड़े से सौभाग्यशाली लोगों में से थे, जिनसे श्रीरामकृष्ण ने

अपनी पहली ही भेंट में ऐसा प्रश्न पूछा हो; और इस घटनाक्रम से यह स्पष्ट भी हो जाता है कि उनके साथ ऐसा क्यों हुआ।

विलियम्स ने शीघ्रता से उत्तर दिया, "आप साक्षात् नित्यचिन्मयविग्रह ईश्वरपुत्र ईसा मसीह ही है।"[१०]

निस्सन्देह विलियम्स की धारणा को क्रिस्तान धर्मशास्त्रियों द्वारा स्वीकृति नहीं मिलेगी। चर्च की केरिग्मा (Kerygma) के अनुसार ईश्वर ने अपने को अन्तिम रूप से और पूर्णरूप से सब समय के लिए ईसा की देह में प्रकट कर दिया है। एक धर्मकट्टर क्रिस्तान स्वीकार करता है कि ईसा ही एकमात्र मसीहा हैं; वह स्वर्ग से पतित होकर मनुष्य के आने पर, उसके पापी होने पर और एकमात्र ईसा द्वारा उसके मुक्ति पाने पर विश्वास करता है। भले ही विलियम्स एक प्रोटेस्टेंट ईसाई थे, फिर भी उन्हें ऐसी कुछ प्रत्यक्ष अनुभूति जरूर हुई होगी, जिससे वे ऐसे वचन कहने के लिए प्रेरित हो सके। उनकी आन्तरिकता के प्रति सन्देह करने का कोई भी कारण नहीं है।

इससे अधिक और कोई तथ्य उपलब्ध नहीं, जिससे यह पता लग सके कि उन दोनों के बीच क्या आदान-प्रदान हुआ, सिवा इसके कि उस थोड़े से समय में विलियम्स पूरी तरह से विश्वस्त हो गये कि श्रीरामकृष्ण

---

१०. स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसग', भा. ३, पृ. १४४ (रामकृष्ण मठ, नागपुर)।

भलेही एक दार्शनिक या विद्वान् व्यक्ति न हों, पर सर्वोच्च अनुभूतिवाले मनुष्य हैं, और जो भी वे कहते हैं, पूरे अधिकार के साथ कहते हैं।

हम जानते हैं कि भेंट के अन्त में श्रीरामकृष्ण ने स्नेह-भरे शब्दों में विलियम्स से कहा था, "चिन्ता न करो; परन्तु इस स्थान पर दो बार और जरूर आना।"[११] ठाकुर की बातों का, जो हमेशा चुटकुलों और दैनिक जीवन के दृष्टान्तों से भरी होतीं, विलियम्स पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने सहर्ष यह सुझाव मान लिया। और बाद में यह अधिकाधिक स्पष्ट हो गया कि इन भेंटों (बहुत सम्भव 'दो बार' से अधिक) से विलियम्स में महत्त्वपूर्ण और स्थायी परिवर्तन आया था, जिससे उनका आध्यात्मिक जीवन गहरा और अनुभूतिसम्पन्न बनता गया। इसके कुछ वर्षों के बाद रामचन्द्र दत्त ने अचरज में भरकर देखा था कि प्रोटेस्टैंट ईसाई विलियम्स ठनठनिया के मन्दिर में सिद्धेश्वरी देवी (काली) की मूर्ति को प्रणाम कर रहे हैं। पूछने पर विलियम्स ने रुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया था--

"मुझे मूर्ति में क्राइस्ट के दर्शन हुए। स्पष्ट है कि मेरी अपनी पुरानी धारणा टूट गयी है। श्रीरामकृष्ण ने मेरी

११. 'तत्त्व मंजरी' (बंगला) संख्या २, पृ ४०-४१ में इस भेंट का संक्षिप्त वर्णन है। घटना का ऐसा ही वर्णन तथा और कुछ बाद के तथ्य 'वक्तृतावली', भा. २. पृ. ३८९-९. मिलते हैं।

हठधर्मिता को चूरचूर कर मानो एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया है। उनकी कृपा से अब मैं ऐसा देख और समझ सकता हूँ, जैसा मुझे पहले कभी नहीं सूझा। अब मैं कभी कभी सोचता हूँ कि मैं कितना मूर्ख था, जो हठधर्मी क्रिस्तान की तरह देवी-देवताओं की मूर्ति से घृणा करता था। परन्तु यह मेरा अहोभाग्य है कि मुझे नव-जीवन का आशीर्वाद मिला है।"[१२]

इस कहानी को शेष करने के पहले विलियम्स के सम्बन्ध में स्वामी सारदानन्द जी द्वारा दी गयी अन्तिम जानकारी दे दें--

"हम विश्वस्त सूत्र से जानते हैं, वह व्यक्ति कई बार श्रीरामकृष्णदेव के पास आते-जाते रहने के बाद ही उन्हें ईश्वरावतार-रूप से निश्चित कर सका था, और उनके उपदेश से उसने संसार का परित्याग कर पजाब प्रदेश के उत्तर में अवस्थित हिमालय पर्वत के किसी दुर्गम स्थल में बैठकर तपस्या करते हुए शरीर-त्याग कर दिया था।" [१३]

●

१२. 'वक्तृतावली', भा. २, पृ. ३९०।
१३. स्वामी सारदानन्द : वही; पृ. १४४।

पूजा-विज्ञान

स्वामी प्रमेयानन्द

(रामकृष्ण मठ, बेलुड मठ)

(उत्तरार्ध)

(गतांक से आगे)

'अर्थज्ञानस्य कर्मानुष्ठानांगत्वं न ह्यर्थज्ञानमन्तरेण अनुष्ठानं सम्भवति'--'अर्थज्ञान कर्मानुष्ठान का अंग है, अर्थज्ञान के बिना ठीक ठीक कर्मानुष्ठान सम्भव नहीं होता'---इस शास्त्रवचन की पृष्ठभूमि में साधारण पूजा में जिन कुछ अनुष्ठानों की आवश्यकता होती है, उनके तात्पर्य पर विचार करना ही इस लेख का उद्देश्य है। जिन पूजकों और जिज्ञासुओं को इस सम्बन्ध में जानने की इच्छा है, उनके लिए कतिपय प्रचलित अनुष्ठानों का तात्पर्य यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप में दिया जा रहा है।

यहाँ पर जो 'अर्थज्ञान' कहा गया, वह अनुष्ठान एवं मंत्र दोनों के सन्दर्भ में। जैसे पुजारी को यह जानना उचित है कि अनुष्ठान का तात्पर्य क्या है, उसी प्रकार उसे यह भी अवश्य जानना चाहिए कि किस मंत्र का क्या अर्थ है। पूरा फल प्राप्त करने के लिए दोनों को जानने की समान रूप से आवश्यकता है। जो हो, तात्पर्य के विवेचन में प्रवेश करने से पूर्व यह समीचीन लगता है कि प्रारम्भ में ही दो-एक साधारण बातें कह रखें। उससे आलोच्य विषय को समझने में सुविधा

होगी। पूजा के किसी अंगविशेष को या अनुष्ठान की किसी विशेष प्रक्रिया को अलग करके देखने से उसका सही अर्थ समझ में नहीं आएगा, बल्कि भ्रमित होने की ही अधिक सम्भावना है। यह स्मरण रखना होगा कि समग्रता की दृष्टि से प्रत्येक क्रिया की सार्थकता है। पूजा के प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे समस्त एक सुचिन्तित व्यवस्था के अन्तर्गत आती हैं। पूजा में जिन सब विधि-अनुष्ठानों का निर्देश है, वे क्यों रखे गये हैं तथा उनके पीछे क्या हेतु है, इसका सही तौर से निर्णय करना अल्पबुद्धि मनुष्य के लिए हरदम सम्भव नहीं हो पाता। पर इस कारण अनुष्ठान के गूढ़ तात्पर्य और उसकी सार्थकता में कोई कमी नहीं होती। इन विषयों में शास्त्र-विधान ही सर्वोपरि है तथा अवश्य ग्रहणीय है। शास्त्र का भी यह स्पष्ट निर्देश है—'जो शास्त्रविधि को न मान अपने इच्छानुसार चलता है, वह कभी सिद्धिलाभ नहीं कर सकता। वह न तो इस लोक में सुख पा सकता है, न परलोक में श्रेष्ठ गति।'[1]

अनुष्ठानों की सार्थकता के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण के जीवन में जो सब उपलब्धियाँ हुई थीं, उनमें से कुछ का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। यद्यपि ये उपलब्धियाँ उनके साधक-जीवन में विभिन्न कालों में हुई

१. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ गीता, १६/२३

थीं, तथापि आलोच्य विषय को समझने की तथा उनके वर्णन की सुविधा की दृष्टि से उन सबका उल्लेख एक साथ ही करते हैं।

"श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि अंगन्यास, करन्यास आदि पूजन के अंगों को सम्पन्न करने के समय वे वास्तव में उन मन्त्रवर्णों को अपने शरीर में उज्ज्वल रूप से सन्निविष्ट देखा करते थे।...पूजा-पद्धति के अनुसार जिस समय वे 'रं इति जलधारया वह्निप्राकारं विचिन्त्य' (अर्थात् 'रं' इस मन्त्रवर्ण का उच्चारण कर पुजारी अपने चारों ओर जल छिड़ककर यह चिन्तन करे कि मानो अग्नि की दीवाल द्वारा पूजन का स्थान घिरा हुआ है एवं तदर्थ किसी प्रकार का विघ्न वहाँ प्रवेश नहीं कर पा रहा है) इत्यादि शब्दों का उच्चारण करते थे, उस समय उन्हें यह स्पष्ट दिखायी पड़ता था कि उनके चारों ओर शतजिह्वा विस्तार कर अग्नि की अगम्य दीवाल विद्यमान है तथा सर्वप्रकार के विघ्नों से पूजन-स्थल की वह पूर्णतया रक्षा कर रही है।"[२]

"सन्ध्या-पूजनादि करते समय शास्त्रीय विधि के अनुसार जब मैं इस प्रकार चिन्तन करता था कि भीतर का पापपुरुष दग्ध हो चुका है, तब यह कौन जानता था कि शरीर के अन्दर सचमुच पापपुरुष विद्यमान है तथा वास्तव में उसे दग्ध, विनष्ट किया जा सकता है!... एक दिन मैं पंचवटी में

२. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', प्रथम खण्ड, पृ० २०१-२।

बैठा हुआ था, उस समय एकाएक मैंने देखा कि एक घोर श्यामवर्ण भीषणाकृति पुरुष मानो शराब पीकर हिलते डुलते हुए (अपने शरीर को दिखाकर) इसके भीतर से निकलकर मेरे सम्मुख टहलने लगा। दूसरे ही क्षण में क्या देखता हूँ कि और एक सौम्यमूर्ति पुरुष गेरुआ वस्त्र तथा त्रिशूल धारण किये हुए उसी प्रकार (शरीर के) भीतर से निकला तथा उसने उस भीषणाकृति पुरुष पर बलपूर्वक आक्रमण कर उसे मार डाला! . . ."[३]

"...माँ को अन्नादि का भोग लगाकर वे देखते थे कि माँ के नेत्रों से चमकती हुई ज्योतिःरश्मि निकलकर भोग की वस्तुओं को स्पर्श करती हुई उसके सार भाग को लेकर पुनः नेत्रों में प्रविष्ट हो रही है !" इस प्रकार की अनेक घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। कलेवर-वृद्धि के भय से इन कुछ घटनाओं का उल्लेख करके ही हम विरत होते हैं।

अब हम अपने मूल वक्तव्य में लौट चलें। पूजा का पहला निर्देश यह है कि पूजक स्नान और दैनिक नित्य कर्म समाप्त कर शुद्ध भाव से पूजामण्डप में प्रवेश करे और देवता को प्रणाम कर उत्तर या पूर्व की ओर मुँह करके पूजा के आसन पर बैठे।

यह जो उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके पूजा के आसन पर बैठना है, उसका भी एक तात्पर्य है। इन

३. उपर्युक्त, पृ० २२५।

४. „ पृ० २१७।

दिशाओं का निर्देश प्रतीक या सांकेतिक रूप में ही हुआ है। सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। वह पूर्व में उगता है। फलतः पूर्व दिशा की बात मन में आने पर ज्ञानसूर्य के उदय का भाव स्वाभाविक रूप से मन को उद्दीपित करता है। जैसे मत्स्ययंत्र की सुई हरदम उत्तर की ओर रहती है, वैसे ही मनुष्य के मन को सर्वदा ईश्वर की ओर रहना चाहिए। उत्तर दिशा की बात कहते ही मन को ईश्वर-मुखी रखने की बात सहज ही मन में आती है। इसीलिए लगता है, जप-ध्यान और पूजा-अनुष्ठानादि में उत्तर या पूर्व की ओर मुँह करके बैठने का निर्देश है।

आचमन--देह-मन शुद्ध न हों, तो आध्यात्मिक साधना की योग्यता नहीं प्राप्त होती। दूसरे शब्दों में, देह और मन को शुद्ध कर लेकर तब साधन-भजन में प्रवृत्त होना चाहिए। आचमन का मुख्य उद्देश्य है देह और मन को शुद्ध करना। विष्णु का स्मरण देह-मन की शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है। 'यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरशुचिः'--पुण्डरीकाक्ष अर्थात् विष्णु के स्मरण से साधक का अन्तर और बाहर सम्यक् रूप से शुद्ध होता है। तंत्र में भी कहा गया है कि आचमन के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन त्रिविध देहों का शोधन होता है। (आत्मतत्त्वेन स्थूलदेहं शोधयामि स्वाहा, विद्यातत्त्वेन सूक्ष्मदेहं शोधयामि स्वाहा, शिवतत्त्वेन परदेहं शोधयामि स्वाहा।-- 'ताराभक्तिसुधार्णव,' पृ० १२६)। फिर आचमन पूजक को पूजा के लक्ष्यस्वरूप सर्वव्यापक

अखण्डचैतन्य परमात्मा की ओर अग्रसर होने की बात भी परोक्ष रूप से स्मरण करा देता है। आचमन की प्रार्थना में 'ॐ तद्विष्णोः परमं पदम्' आदि जो मंत्र (ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। --'ऋग्वेद-संहिता', १/२२/२०) दुहराये जाते हैं, उनका अर्थ है --अनावृत आकाश में सूर्य के आलोक की सहायता से आँखें जैसे विश्व को देखती हैं, वैसे ही ज्ञानीजन भी ब्रह्म का दर्शन करते हैं। कर्म प्रारम्भ करते हुए साधक भी प्रार्थना कर रहा है कि वह ज्ञाननेत्र से विष्णु के दर्शन कर सके, उनके स्वरूप की उपलब्धि कर सके और कर्म के उद्देश्य को सिद्ध करने में वह समर्थ हो।

स्वस्तिवाचन --अभीष्ट कर्म की सफलता तथा सर्वभूतों के कल्याण की प्रार्थना ही स्वस्तिवाचन का सार है। यह बात स्वस्तिवाचन के मंत्र से ही स्पष्ट हो जाती है। जीव स्वरूप से एक दूसरे से जुड़ा है। समष्टि के कल्याण से व्यष्टि का कल्याण है तथा व्यष्टि के कल्याण से समष्टि का कल्याण--यह भाव स्वस्तिवाचन के मंत्र में समाया हुआ है। मेरी साधना के फल का उपभोग सभी समान रूप से करें, सबका कल्याण हो—स्वस्तिवाचन का यह सार्वभौमिक भाव बड़ा हृदयस्पर्शी है।

संकल्प --जिस उद्देश्य से पूजा की जाती है, उसको साधक के मन में दृढ़ रूप से अंकित करने के लिए ही संकल्प होता है॥ पूजा का प्रधान उद्देश्य है देवता को

प्रसन्न करना, उनकी प्रीति की कामना करना। पूजित देवता की प्रीति यदि प्राप्त की जा सके, तो साधक के लिए फिर कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता। संकल्प के मंत्र में भी है—'अमुक-देवता प्रीतिकामः' इत्यादि। उक्त संकल्प-वाक्य में उल्लिखित मास, पक्ष, तिथि आदि विराट् विश्वप्रकृति के साथ पूजक के नित्य सम्बन्ध की बात का स्मरण करा देते हैं। महान् विश्व के साथ सम्बन्ध की भावना पूजक को उच्चभाव से युक्त करने में सहायक होती है।

घटस्थापन—यह पूजा का एक विशेष अंग है। लगभग सभी मूर्ति-पूजा में एक घट की स्थापना की जाती है और उसमें देवता का आवाहन कर पूजा-अर्चना की जाती है। घट देवता का प्रतीक है। जहाँ कोई मूर्ति नहीं होती, वहाँ घट ही देवता का प्रधान प्रतीक या प्रतिरूप होता है।

घटस्थापन का और एक तात्पर्य है। यह हृदय-गुहा का प्रतिनिधि है। हृदय ही आत्मा का किला है। 'आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'—आत्मा प्रत्येक जीव की हृदयगुहा में अवस्थित है। घट उसी हृदय का प्रतिनिधि है। घट के भीतर का जल भाव का प्रतिनिधित्व करता है, श्रीफल बुद्धि या ज्ञान का, पंचपल्लव पंच कर्मेन्द्रियों का, पंचरत्न पंच ज्ञानेन्द्रियों का तथा पंचशस्य पंच तन्मात्राओं का। घट के कलेवर पर बनायी गयी सिन्दूर-मूर्ति सूक्ष्म देह की प्रतिरूप है। "घटस्थापन के समय जिन

मंत्रों के पाठ का निर्देश है, यदि उनका उच्चारण अर्थ-बोध और तदनुरूप अनुभूति के साथ किया जाय, तो यह अनुभव होने लगता है कि सामने का घट अपने हृदय का यथार्थ प्रतिरूप ही है तथा यह भी प्रत्यक्ष होने लगता है कि इसी स्थान से समस्त देवशक्ति आविर्भूत हो रही है।" ('पूजातत्त्व' ,ब्रह्मर्षि श्री सत्यदेव, पृ० १३३)।

प्राणप्रतिष्ठा--प्रतिमापूजा में प्राणप्रतिष्ठा एक अवश्य करणीय अनुष्ठान है। साधक का अपनी आत्म-सत्ता को सामने स्थित प्रतिमा में आरोपित करना ही प्राणप्रतिष्ठा की मूल बात है। प्राणप्रतिष्ठा के मंत्रों में भी यह भाव स्पष्ट है। देवता मेरी ही आत्मा हैं। अपने को देवता समझते हुए, अपने दिव्यत्व की कल्पना करते हुए यथानिर्दिष्ट मुद्रा के द्वारा पुष्प आदि ग्रहण कर निःश्वास के माध्यम से सर्वव्यापी चैतन्यमय देवता को आराध्य मूर्ति में प्रतिष्ठित करते करते आत्मा के दिव्यत्व के सम्बन्ध में चेतना जाग्रत् होती है।

हर वस्तु चैतन्यमयी प्राणमयी महाशक्ति का रूप है--यह बोध ही साधना का अन्यतम लक्ष्य है। अतः मूर्ति में शास्त्रनिहित उपाय से साधक के चैतन्यमय देवता की प्रतिष्ठा करना ही प्राणप्रतिष्ठा का लक्ष्य है।

द्वारदेवता पूजा--पूजा-अनुष्ठान को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए द्वारदेवताओं की प्रसन्नता और आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु द्वारदेवताओं की पूजा की जाती है। द्वारदेवताओं की प्रसन्नता हासिल कर, उनकी अनु-

मति प्राप्त कर पूजागृह में प्रवेश करने से पूजा करने में विघ्न डालनेवाले अवांछित तत्त्व पूजागृह में प्रवेश नहीं कर पाते। इसलिए पूजागृह में प्रवेश करने से पूर्व ही द्वारदेवता की पूजा का विधान है।

शुद्धि या शोधन पूजा का एक अपरिहार्य अंग है। जो वस्तु अपने स्वरूप से जैसी है, उसे उसके उसी स्वरूप में प्रतिष्ठित करना ही शुद्धि या शोधन है। हर वस्तु स्वरूप से ब्रह्म है। उसका बाहर का जो रूप हमारे सामने दिखायी देता है, वह आरोपित रूप है। शोधन या शुद्धि वस्तु के इस आरोपित रूप को अनावृत करती है और उसे अपने स्वरूप यानी ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित करती है।

पंचशुद्धि--पूजा के प्रारम्भ में ही पंचशुद्धि का विधान है। आत्मा (पूजक), स्थान, मंत्र, द्रव्य और देवता--इन पाँच पदार्थों की शुद्धि को पंचशुद्धि कहते हैं। पंचशुद्धि के बिना कोई पूजा फलवती नहीं होती। (आत्म-स्थान-मन्त्र-द्रव्य-देवशुद्धिस्तु पंचमी। यावन्न कुरुते मंत्री तावद्देवार्चनं कुतः॥--'कुलार्णवतंत्रम्', ६।१६)। पूजा एक दिव्य प्रक्रिया है। पूजा में प्रत्येक वस्तु के दिव्य रूप को प्रधानता दी जाती है। वस्तु का दिव्य रूप ही ग्रहणीय है। मंत्र की शक्ति से साधारण वस्तु को आध्यात्मिक साधना के उपयोगी बना लेना ही शोधन का तात्पर्य है। साधक के चिन्तन में शोधित द्रव्य के दिव्य रूप की ही प्रधानता होती है। इसीलिए

शास्त्र का भी निर्देश है--पूज्य, पूजक, पूजाद्रव्य, पूजा-स्थान, मंत्र सबको देवता बना देना होगा।

शास्त्रविहित स्नान, भूतशुद्धि, प्राणायाम और न्यास आदि आत्मशुद्धि के अन्तर्गत हैं। पूजास्थान को साफ-सुथरा करके लेपनादि करना, फूल-माला आदि से सजा कर धूप-दीप आदि जलाना स्थानशुद्धि के अन्तर्गत आता है। यथानिर्दिष्ट नियम के अनुसार मूलमंत्र का अनुलोम और विलोम क्रम से दो बार आवृत्ति करना मंत्रशुद्धि के अन्तर्गत है। निर्दिष्ट मंत्र से पूजाद्रव्य का प्रोक्षण और मुद्राप्रदर्शन द्रव्यशुद्धि के तथा पूजापीठ पर देवता का निर्दिष्ट मन्त्र से प्रोक्षण देवशुद्धि के अन्तर्गत है। इस पंचशुद्धि के द्वारा पूज्य, पूजक, पूजाद्रव्य, मंत्र और पूजास्थान सभी दिव्यत्व को प्राप्त होते हैं।

भूतापसारण या विघ्नापसारण--पूजा के समस्त अनुष्ठानों को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए पूजा के प्रारम्भ में ही भूताधिपति शिव की आज्ञा से सब भूत-प्रेत विनाश को प्राप्त हों, पिशाचगण दूर हट जाएँ--ऐसी प्रार्थना की जाती है, जिससे पांचभौतिक जीव-जगत् पूजा-कार्य में किसी प्रकार का विघ्न पैदा न कर सके। पूजा में सिद्धिलाभ करने के लिए भूतनाथ की कृपा-प्रार्थना भी इस अनुष्ठान का अन्यतम लक्ष्य है। भूतापसारण के मत्र भी इस भाव को उद्दीपित करते हैं।

आसनशुद्धि--हम पंचशुद्धि के प्रसंग में यह कह चुके हैं कि जो वस्तु अपने स्वरूप से जैसी है, उसे

उसके उस स्वरूप में प्रतिष्ठित करना ही शोधन या शुद्धि कहलाता है तथा साधक के चिन्तन में शोधित द्रव्य का दिव्य रूप ही प्रधानता प्राप्त करता है। 'ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका:' आदि आसन-शुद्धि के मंत्र में धरित्री के पास प्रार्थना की जा रही है कि हे धरती देवी, तुमने सर्वलोकों को धारण करके रखा है, फिर तुम्हें स्वयं विष्णु धारण किये हुए हैं। तुम मुझे सदैव धारण करके रखो, मैं तुम्हारी गोद से कभी भी अलग न होऊँ। तुम मेरे आसन को पवित्र करो, दृढ़ करो। तुम मेरा हृदयासन शुद्ध कर दो।

आसन के प्रसंग में और एक बात आती है। साधकों के मतानुसार साधन-भजन के समय शरीर में कई बार विद्युत् की क्रिया परिलक्षित होती है। पूजा में व्यवहार के लिए 'चैलाजिनकुशोत्तरम्'—कुशासन, मृगचर्मासन और उस पर नरम वस्त्र अथवा तदनुरूप विभिन्न आसनों के व्यवहार का विधान है। मेरुदण्ड को सीधा कर इन सब आसनों पर बैठने से देहस्थ विद्युत् का आवागमन सहज होता है, विद्युत्-प्रवाह भूमि के साथ युक्त हो साधक की हानि नहीं कर पाता। इन सब आसनों में से सहज ही विद्युत्-शक्ति का आवागमन नहीं हो पाता।

करशुद्धि—पूजा में देह के अन्य अंग-प्रत्यंगों की अपेक्षा कर का व्यवहार सबसे अधिक होता है। लगता है शायद इसीलिए करशुद्धि का अलग से विधान है, अन्यथा करशुद्धि तो आत्मशुद्धि के ही अन्तर्गत आ

जाती है। उभय करतलों के बीच चन्दनचर्चित पुष्प को मसलकर एक विशेष प्रक्रिया द्वारा उसे ईशान कोण में फेंकने से करशुद्धि होती है। करद्वय को साधना के उपयोगी कर लेना ही करशुद्धि का उद्देश्य है।

'मेरुतंत्र' में करशुद्धि का और एक तात्पर्य मिलता है। उसमें लिखा है -- पुष्प को मसलकर और सूँघकर 'ॐ ह्रौं, ते सर्वे विलयं यान्तु ये मां हिंसन्ति हिंसकाः। मृत्युरोगभयक्लेशाः पतन्तु रिपुमस्तके'--इस मंत्र का उच्चारण करते हुए ईशान कोण में फेंक दे। तात्पर्य यह है कि जो मेरी इस साधना में विघ्न पैदा करेंगे, उन विघ्नकारी शत्रुओं के सिर पर यह फूल गिरे और उनका विनाश हो।

इस करशुद्धि का एक भीतरी पहलू भी है। साधक के अपने भीतर साधना में विघ्न डालनेवाले जो सब रिपु हैं, शत्रु हैं, उन सबके विनाश की भी प्रार्थना यहाँ पर की गयी है।

दिव्यविघ्ननिवारण और दिग्बन्धन --इसके द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि पूजा में आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक किसी प्रकार का विघ्न पैदा न हो। पूजास्थान के चारों ओर जल के छींटे देकर दिशाओं को मानो बाँधकर सुरक्षित दुर्ग की रचना करना ही इसका उद्देश्य है। जैसे सुरक्षित किले में किसी प्रकार का बाधा-विघ्न प्रवेश नहीं कर सकता, वैसे ही यह दुर्ग भी पूजक की सब प्रकार के बाधा-विघ्नों से रक्षा करता है।

वह्निप्राकारचिन्ता—"'तीक्ष्णाकल्प' और 'तारार्णव' में कहा है—'रक्त रेफज-बालार्कमण्डलोर्ध्वगकूर्चजम् । विभाव्य वज्रमेतेन प्राकारं दशदिग्गतं त्रिलोकीव्यापिकिरणं दलिताखिलविघ्नकम् ।। कृत्वा वज्रमयं ज्योतिर्भवनोदरमध्यगम् । चिन्तयेद् विमलं शुद्धमात्मानं देवतामयम् ।।' इसका अर्थ है — ऐसा चिन्तन करना होगा कि मस्तक के ऊपर शून्य में 'रं' इस बह्निबीज से ऊपर 'हूं'-कार-बीज-विभूपित तरुण रविमण्डल उद्भूत हुआ है। बाद में यह हूं-कार-बीजयुक्त मण्डल मानो दसों दिशाओं में व्याप्त वज्रप्राकार में परिणत हो गया। इस प्राकार के तेज अथवा किरण से मानो तीनों लोक भर गये। इस प्रकार समस्त विघ्नों का नाश करनेवाले एक वज्रमय ज्योतिर्भवन या ज्योतिर्मय घर की कल्पना कर उसके बीच अपना इस प्रकार चिन्तन करना होगा कि मैं निर्मलचित्त, विशुद्ध और देवतामय हूँ।" ('तन्त्रोक्त नित्य पूजापद्धति', जगन्मोहन तर्कालंकार, तृतीय संस्करण, पृ.४३)। सीधी बात यह है कि साधक स्वयं को निर्मलचित्त, विशुद्ध और देवतामय सोचे; ऐसी कल्पना करे कि वह वह्निप्राकार के घेरे में सुरक्षित है और किसी अशुभ शक्ति में इतनी क्षमता नहीं कि वह इस दीवाल को भेदकर उसकी साधना में विघ्न पैदा कर सके।

प्राणायाम — प्राणायाम का सरल अर्थ है प्राण (वायु) का निरोध। प्राण यानी वायु और आयाम अर्थात् उसका निरोध। (प्राणो वायुरिति ख्यात

आयामस्तन्निरोधनम् ।—— 'गन्धर्वतन्त्र') । 'प्राण जगत् की उत्पत्ति की कारणीभूता, अनन्त, सर्वव्यापिनी, विकासिनी शक्ति है। प्राण के चांचल्य से समुदय शक्तियाँ विकसित होती हैं। जो शक्ति विश्व-ब्रह्माण्ड के भीतर रहकर ब्रह्माण्ड को तथा जड़-देह के भीतर रहकर देह को गतिशील बनाती है, मन को चिन्ताशील और बुद्धि को विचारशील करती है, वही प्राण की शक्ति है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र समस्त पदार्थ प्राणशक्ति के ही विभिन्न स्पन्दन मात्र हैं। इस सर्वशक्तिमान् प्राण के संयम को यथार्थ प्राणायाम कहते हैं।" ('मन्त्रार्थ-दीपिका', स्वामी ओंकारेश्वरानन्द, बंगाब्द १३७४, पृ०२१)। उपनिषद् भी कहता है —— सर्वास्पद अक्षर ब्रह्म ही प्राण है, वही फिर वाणी और मन है। (तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।—— 'मुण्डकोपनिषद्', २/२/२)। प्रकृत प्राणायाम के द्वारा इस सर्वशक्तिमान् प्राण को संयत या अपने वश में किया जाता है। प्राणायाम से चित्त का चांचल्य दूर होता है और स्थैर्य सधता है। (चले वाते चलं चित्त निश्चले निश्चल भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥ ——'हठयोगप्रदीपिका', २/२)।

भूतशुद्धि —— क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर इन पंचभूतों द्वारा निर्मित शरीर की शुद्धि ही भूतशुद्धि है। शरीर के आकार में परिणत इन पंचभूतों के शोधन से पंचभूत अव्यय ब्रह्म के साथ युक्त होते हैं। इसका

अर्थ यही है कि पचभूतों को जड़पदार्थ न समझ ब्रह्म ही समझना चाहिए। सर्वं तद् 'ब्रह्म' -- यह सब कुछ ब्रह्म है। भूतशुद्धि के द्वारा पापपुरुष या पापदेह दग्ध होती है और शुद्ध नवीन देह की रचना होती है। इस नवीन देह को ही 'साधनदेह' कहते हैं।

न्यास--पूजा में न्यास एक अपरिहार्य अंग है। 'नि' के साथ 'अस्' धातु लगाने से 'न्यास' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। 'अस् क्षेपणे स्थापने च'--अस् धातु का अर्थ है फेंकना या स्थापित करना। देहसम्पर्क के कारण साधक में जो कर्तृत्वाभिमान या ममत्वबुद्धि होती है, उसे दूर फेंकना तथा उसके स्थान पर देवत्वभावना या भगवद्-बुद्धि की स्थापना करना ही न्यास का प्रयोजन है। शास्त्र में भी है--'न्यासो नाम तत्तद्देवतानां तत्तदवयवेष्व-वस्थापनम्। अवस्थितत्वेन भावनेति यावत्।' ('ललितासहस्रनाम' १/४ की 'सौभाग्यभास्कर' व्याख्या)। अर्थात्, साधक के शरीर के विभिन्न अंगों में उसके इष्टदेवता के उस उस अंग की अवस्थिति की भावना करनी चाहिए। ऐसी भावना जितनी दृढ़ होती है, देह के प्रति मिथ्या ममत्वबुद्धि भी उतनी ही दूर होती जाती है।

मातृकान्यास--"मातृका का अर्थ है वर्णमाला--अ, आ, क, ख आदि और उनके प्रतिपाद्य देवतागण। न्यास का अर्थ है संरक्षण। अकार आदि वर्णमाला की शक्ति अचिन्त्य है। इस शक्ति के जठर में अन्य सब प्रकार की शक्तियाँ पैदा होती हैं, इसलिए इसे मातृका कहते हैं।

. . . हमारा शरीर एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है। क्षुद्र और वृहत् ब्रह्माण्ड एक ही नियम से तथा एक ही देवता के अधीन परिचालित होते हैं। पार्थक्य केवल परिमाण में है, गुण में नहीं। एक क्षुद्र है, तो दूसरा विराट्; एक व्यष्टि है, तो दूसरा समष्टि। इस स्थूल देह में देवताओं का न्यास या संरक्षण या पूजन करना मातृकान्यास कहलाता है। इसका उद्देश्य है--विराट् देह और हिरण्यगर्भ के साथ पूजक के ऐक्यबोध की उपलब्धि।" ('मन्त्रार्थ-दीपिका', स्वामी ओंकारेश्वरानन्द, बंगाब्द १३७४, पृ.२४)।

'मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः' ---मन्त्र वही है, जिसका स्मरण करने से त्राण होता है अर्थात् सीमाबद्धता दूर होती है। मन्त्रप्रतिपाद्य विषय का एकाग्र चित्त से ध्यान करने पर स्थूल और सूक्ष्म देह की परिच्छिन्नता यानी सीमाबद्धता दूर होती है।

करन्यास, अंगन्यास, ऋष्यादिन्यास, व्यापकन्यास, आदि--जीव की विभिन्न इन्द्रियों के अलग अलग अधिष्ठाता देवता हैं। इन न्यासों के द्वारा उनका आवाहन कर उपयुक्त स्थान में उन्हें स्थापित किया जाता है। इससे देह के प्रति साधक की अहंता-ममता दूर होती है। व्यापकन्यास के द्वारा सर्वभूत में सर्वव्यापी भगवत्-सत्ता की उपलब्धि होती है।

ध्यान -- न्यास आदि के बाद ध्यान का विधान है। ध्यान पूजा का एक विशेष अंग है। ध्यान का सामान्य अर्थ है चिन्तन। 'कुलार्णवतन्त्र' में है-- समस्त इन्द्रिय-सन्तापों

को मन के द्वारा संयत कर मन में इष्टदेवता का चिन्तन ध्यान कहलाता है। (यावदिन्द्रियसन्तापं मनसा सन्नियम्य च। स्वान्तेनाभीष्टदेवस्य चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥--'कुलार्णवतन्त्रम्', १७/ ३६)।

ध्यान दो प्रकार का है -- स्थूल और सूक्ष्म। (ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः। साकारं स्थूलमित्याहुर्निराकारं तु सूक्ष्मकम् ॥--'कुलार्णवतन्त्रम्', उ० ९)। बाह्यपूजा में देवता के स्थूल रूप का ही ध्यान विहित है। विधान के अनुसार स्थूल रूप का ध्यान करते करते देवता का सूक्ष्म रूप, सूक्ष्म भाव, देवता का तत्त्व पूजक के निकट प्रकाशित होता है। ध्यान के साथ साथ मानसपूजा का विधान है। मानसपूजा बाह्यपूजा की ही मानसिक अभिव्यक्ति है। देवता का निराकार भाव से ध्यान सूक्ष्म ध्यान कहलाता है।

उपचार --- ध्यान और मानसपूजा के बाद का अनुष्ठान है उपचार-समर्पण। सामर्थ्य के अनुसार उपचार पंचविध, दशविध या षोड़शविध हो सकता है। यथापि पूजा और फलभेद से सप्तविध, द्वादशविध, अष्टादशविध आदि नानाविध उपचारों का विधान भी है। घर में यदि कोई अत्यन्त स्नेह और श्रद्धा का पात्र आए या कोई सम्मानभाजन व्यक्ति पदार्पण करें, तो जिस प्रकार उनका स्वागत, अभ्यर्थना और सेवा-यत्न किया जाता है, देवता के सम्बन्ध में भी ठीक वही बात है। उपचार की तालिका और समर्पण के मन्त्र में यह भाव स्पष्ट

है। पर ये सब बाह्य उपचार हैं। "भक्तिपूर्वक यह सब यानी उपचार-द्रव्य देवता को समर्पित करने पर वह साधक को देवता के पास ले जाता है, इसलिए इसको उपचार कहते हैं। अथवा वांछित फल को निकट ला देता है, इसलिए इसको उपचार कहते हैं।" ('शास्त्रमूलक भारतीय साधना', उपेन्द्रकुमार दास, द्वितीय खण्ड, बंगाब्द १३७३, पृ० ९०५)। उपचार का मूलतः अर्थ भी वही है—'उप चारयति इति उपचारः'।

"सृष्टि में जैसे स्थूल-सूक्ष्म आदि का भेद है, उपचार में भी उसी प्रकार के भेद हैं। सृष्टिक्रम में ब्रह्मवस्तु की स्थूलतम परिणति है पंचमहाभूत। बाह्यपूजा में निम्न अधिकारी व्यक्ति जिन गन्ध आदि पंचोपचार की सहायता से पूजा करते हैं, वे इन पंचमहाभूतों के ही प्रतीक हैं। गन्ध पृथ्वी का, पुष्प आकाश का, धूप वायु का, दीप तेज का और नैवेद्य जल का प्रतीक है। . . . साधनमर्मज्ञ महात्मागण कहा करते हैं कि देहादि के लिए जो सब पदार्थ आवश्यक हैं, वे सब स्थूल उपचार हैं; वे स्थूल अधिकारी के लिए विहित हैं। सर्वोच्च कोटि के अधिकारी का एकमात्र उपचार है उसकी आत्मा।" (वही, पृ. ९०६)।

उपचार-समर्पण के प्रसंग में और एक बात आती है; वह है अर्चना। "पूजा के प्रत्येक उपचार को शुद्ध करने के लिए अर्चना के द्वारा उसे ईश्वरमय कर लेना होता है। यहाँ तक कि जिस पुष्प के द्वारा अर्चना होगी,

उसकी भी अर्चना करनी होगी। पुष्प की अर्चना कर 'एतदधिपतये श्रीविष्णवे नमः' ऐसा कहकर यों चिन्तन करना पड़ेगा कि पुष्प अपने अधीश्वर विष्णु के साथ एकमय हैं।" ('चण्डीचिन्ता', डा. महानामव्रत ब्रह्मचारी, पृ. १०३)। साधक के मन में इस भाव को संचारित कर देना ही उपचार-पूजा का एक दूसरा तात्पर्य है।

होम-- तान्त्रिक पूजा और वैदिक यज्ञ में देवता के उद्देश्य से होम एक प्रधान और अत्यन्त प्राचीन अनुष्ठान है। देवता के निमित्त कोई हव्य या अर्घ्य देना हो, कोई द्रव्य अर्पित करना हो, तो वह अग्नि को ही समर्पित करना होगा--यह विश्वास और परिपाटी अत्यन्त प्राचीन है। उसका प्रमाण वेद में भी है। वहाँ आता है-- 'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' --अग्नि ही देवता का मुख है ('ऐतरेय ब्राह्मण', १/१/४)। 'अग्निर्देवानां जठरम्' -- अग्नि ही देवताओं का जठर है (वही, २/७/२२/३)। इस प्रकार के और भी अनेक वाक्य हैं। यह विचारणीय है कि अनुष्ठानगत भेद रहने पर भी वैदिक होम और तान्त्रिक होम में मूलतः कोई भेद नहीं है।

होम सामान्यतः तीन प्रकार का है -- स्थूल, सूक्ष्म और पर ('तन्त्ररदु तन्त्र')। इस त्रिविध होम को पुनः बाह्य और आन्तर ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया है। स्थूल होम बाह्य है तथा सूक्ष्म और परहोम आन्तर। होम चाहे त्रिविध हो या द्विविध, सबका लक्ष्य एक है और वह है सब प्रकार के भेद का विलोप।

समिध, पुष्प, फल आदि विभिन्न होम-द्रव्यों को जब देवता के उद्देश्य से अग्नि में आहुति देते हैं, तो वे दग्ध होने के लिए अग्निमय हो जाते हैं। इन भिन्न भिन्न वस्तुओं का अभिन्न हो जाना ही होम का उद्देश्य है। तत्त्व की ओर से देखने पर "इन्द्रियों द्वारा जो सब ग्रहण किये जाते हैं, वे जीवात्मारूप परमशिव के निमित्त आहुति ही है -- वे आत्मसुख के लिए नहीं हैं, ऐसा चिन्तन सब समय करना होगा।" ('शास्त्रमूलक भारतीय शक्तिसाधना', उपेन्द्रकुमार दास, द्वितीय खण्ड, बंगाब्द १३७४, पृ० ९२४)। शास्त्रीय होमानुष्ठान से यह भावना दृढ़ होती है। देवता के उद्देश्य से अग्नि के मुख में अर्घ्य अर्पित करने से होमकर्ता को तब सब कुछ ब्रह्ममय अनुभव होता है; क्योंकि तब उसके लिए अर्पण, घृत, होमाग्नि, होमक्रिया, होमकर्ता स्वयं सब ब्रह्म ही हैं। (ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥--'गीता', ४।२४)।

विसर्जन--बाह्य प्रतिमा में प्राणप्रतिष्ठा करके साधक अब तक जिनकी पूजा कर रहा था, उन इष्टदेवता को अब अपने स्वयं के हृदय में लाकर पुनः स्थापित करना ही विसर्जन है। पूजाविधि के निर्देश में भी यही है। (क्षमस्वेति विसर्जनं कृत्वा संहारमुद्रया तत्तेजः सार्धं माघ्राय हृदयमानयेत्। -- ('बृहत् तन्त्रसार')। संहार-मुद्रा में पुष्प लेकर, उसे सूँघकर, उस पुष्प के साथ देवता के तेज को साधक अपने हृदय में लाकर स्थापित

करे। विसर्जन का और एक अर्थ है। जाग्रत् रूप से विराजमान चिन्मय देवता के चिन्तन से साधक की निवृत्ति। जो अब तक बाहर थे, उन्हें भीतर की ज्ञान-गंगा में निमज्जित कर तन्मय हो जाना। बाहर का विसर्जन इस आन्तर-विसर्जन का प्रतीक मात्र है। देवता का आना-जाना साधक के मन का व्यापार है। वास्तव में विसर्जन की सूचना साधक की मनोवृत्ति से होती है।

मुद्रा--तान्त्रिक पूजा-अनुष्ठान में मुद्रा अपरिहार्य है। मुद्रा की व्याख्या में कहा गया है--'मोदनात् सर्व-देवानां द्रावणात् पापसन्ततेः' ('ज्ञानार्णवतन्त्र')। अर्थात् जो देवताओं की प्रीति उत्पन्न करता है और पापसमूह को दूर करता है, उसे मुद्रा कहते हैं। पूजा-अर्चना, देवताप्रतिष्ठा, नैवेद्य-प्रदान आदि अनुष्ठानों में शास्त्र-निर्दिष्ट अलग अलग मुद्राएँ बनाकर प्रदर्शित करना पड़ता है। इससे सम्बन्धित देवता आमोदित और उत्फुल्ल होते हैं। कहना न होगा कि पूजा का अन्यतम लक्ष्य ही देवताओं का प्रीति-सम्पादन है।

जपसमर्पण और प्रणाम---जपसमर्पण और प्रणाम पूजा का अन्तिम अनुष्ठान है। यह अनुष्ठान पूजा की समाप्ति की सूचना देता है। इसमें मूलमन्त्र का यथासाध्य जप कर, यह प्रार्थना करते हुए कि 'हे देव, तुम कृपा करके मेरा यह जप ग्रहण करो, तुम्हारी कृपा से मैं सिद्धिलाभ कर सकूँ', जप का फल इष्ट के चरणों में अर्पित करने का विधान है। जपसमर्पण के बाद साधक का अपना

कहने को कुछ नहीं रह जाता। इष्ट के चरणों में तन-मन-प्राण यथासर्वस्व निवेदित कर सकने से साधक को परम तृप्ति मिलती है। उसके बाद है प्रणाम। "तत्त्वज्ञ जन कहते हैं, प्रणाम का अर्थ है पूर्ण रूप से नत होना-- सब प्रकार का अहंभाव, अपनी सुखस्पृहा और इच्छा विसर्जित कर प्रणम्य चरणों में आत्मनिवेदन करना।" ('पूजातत्त्व', महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, पृ. ९९) अपने सब प्रकार के अहंबोध को विसर्जित कर इष्ट-देवता के चरणों में पूर्ण आत्मसमर्पण ही प्रणाम की सार्थकता है। ०

० 'उद्बोधन' बंगला मासिक के दिसम्बर १९८१ अंक से साभार गृहीत और अनुवादित।

यथार्थ ज्ञान होने पर अहंकार नहीं रहता। समाधि हुए बिना ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। भरे दोपहर के समय सूरज ठीक माथे के ऊपर रहता है। उस समय मनुष्य चारों ओर देखता है, पर उसे अपनी छाया नहीं दिखायी देती। वैसे ही, यथार्थ ज्ञान होने पर, समाधि होने पर अहंकाररूपी छाया नहीं रहती। यदि ठीक ठीक ज्ञान होने के पश्चात् भी किसी में अहं दिखायी पड़े, तो ऐसा जानना कि वह 'विद्या का अहं' है, 'अविद्या का अहं' नहीं।

-- श्रीरामकृष्ण

विभीषण-शरणागति (६/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर विभीषण-शरणागति' पर एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख उसी के छठे प्रवचन का पूर्वार्घ है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके आभारी हैं। --स०)

भगवान् श्री राम समुद्र के इस पार हैं और समुद्र के दूसरी ओर लंका है। इस मध्य के समुद्र को पार करने के बाद ही विभीषण भगवान् राम तक आ सकते हैं। वास्तव में भगवान् राम तो विभीषण के आगमन की ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब चाहे व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें या आध्यात्मिक, भगवान् राम के द्वारा विभीषण की यह प्रतीक्षा बड़ी स्वाभाविक है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीक्षा का तात्पर्य यह है कि भगवान् राम लंका के विरुद्ध जो युद्ध प्रारम्भ करने जा रहे हैं, वह कोई एक देश के विरुद्ध दूसरे देश का अथवा एक जाति के विरुद्ध दूसरी जाति का संघर्ष नहीं है। ऐसा नहीं कि भारतराष्ट्र लंकाराष्ट्र पर आक्रमण करने गया, या कि वह निशाचर और आर्य जातियों का संघर्ष था। ऐसा भी नहीं कि वह राम और रावण इन दो

राजाओं का युद्ध था। समाज में ऐसे युद्ध तो होते ही रहते हैं, जहाँ दो राजा, दो जातियाँ, दो देश आपस में स्वार्थ के लिए टकराते रहते हैं, पर आदर्श युद्ध वह है, जो किसी आदर्श के लिए हो। और भगवान् राम के युद्ध की यही विशेषता है। उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से इस युद्ध में इस बात का ध्यान रखा कि वह दो व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षा का युद्ध न बने, दो जातियों के बीच द्वेष से होनेवाले युद्ध का रूप वह न ले ले, बल्कि वह धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय के बीच होने वाला युद्ध बने। इसीलिए वे विभीषण की प्रतीक्षा करते हैं।

'कवितावली' रामायण में गोस्वामीजी एक कविता में संकेत करते हैं कि भगवान् राम लंका पर आक्रमण करने में जान-बूझकर विलम्ब कर रहे हैं। वे चाहते तो और भी शीघ्रता से लंका पर आक्रमण कर सकते थे। पर वे एक विशेष बात की प्रतीक्षा कर रहे थे, और जब वह बात पूरी हो गयी, तो उन्होंने लंका पर आक्रमण किया। गोस्वामीजी लिखते हैं कि जब तक विभीषण भगवान् राम से आकर मिल नहीं गये और लंका पर चढ़ाई करने की प्रार्थना नहीं की, तब तक प्रभु प्रतीक्षा करते रहे। वे यदि लंका के विरुद्ध युद्ध करना चाहते, तो अयोध्या से भी सेना मँगाकर कर सकते थे, पर तब वह दो राज्यों का युद्ध होता। किन्तु भगवान् राम तो अपने परिवार का विस्तार करना चाहते हैं। उनकी अयोध्या

से चित्रकूट, चित्रकूट से दण्डकारण्य और दण्डकारण्य से लंका तक की जो यात्रा है, वह उनके परिवार-विस्तार की ही गाथा है। जब तक वे अयोध्या में हैं, तब तक उनके परिवार में उनके सहयोगी-साथी मनुष्य जाति के लोग हैं और मनुष्यों में भी वे हैं, जो उच्च वर्ण के हैं। जब वे चित्रकूट की यात्रा करते हैं, तो उनके साथ वे लोग चलते हैं, जो अनपढ़ हैं, दरिद्र और अभाव-ग्रस्त हैं। उनमें कोल-किरात भी सम्मिलित हो जाते हैं। केवट भी उनका सहयोगी और मित्र बन जाता है। जब वे चित्रकूट से दण्डकारण्य की यात्रा आरम्भ करते हैं, तब उनकी गीधराज से मित्रता होती है और जब प्रभु किष्किन्धा की यात्रा करते हैं, तो उनके सहयोगी बन्दर और भालू हो जाते हैं। इसके बाद जब वे समुद्र के किनारे पहुँचते हैं, तो वे लंका पर तब तक आक्रमण नहीं करते जब तक निशाचर जाति की ओर से भी ऐसी माँग नहीं की जाती। ये जो विभीषण हैं, वे निशाचरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब रावण का आत्याचार स्वयं अपने लोगों के प्रति होने लगता है, ऐसे व्यक्ति के प्रति होता है, जो उनके हित-चिन्तन में व्यग्र था, तब भगवान् राम को लगता है कि यह तो रावण का सरासर अन्याय है और वे इस अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने की घोषणा करते हैं। वे इसके लिए अयोध्या की सेना नहीं बुलाते, वे रावण के निकटस्थ पड़ोसियों के ही द्वारा विभीषण के सहयोग से युद्ध जीत लेते हैं। वे किसी जाति या

वर्ग के स्वार्थ के लिए युद्ध नहीं लड़ते, वे तो समग्र समाज के हित के लिए वह युद्ध स्वीकार करते हैं। अतः विभीषण की प्रतीक्षा आवश्यक है। यह भगवान् राम के युद्ध का और उनके द्वारा विभीषण की प्रतीक्षा का व्यवहारिक और राजनैतिक पक्ष है।

फिर आध्यात्मिक दृष्टि से भी विभीषण की प्रतीक्षा आवश्यक थी। इसकी चर्चा हम विगत पाँच दिनों से करते आ रहे हैं। प्रश्न यह है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् होते हुए भी मनुष्य की बुराइयों को नष्ट क्यों नहीं करता ? उत्तर यह है कि हमारी बुराइयों का नाश केवल ईश्वर की कृपा से नहीं होगा, उसमें हमारी आकांक्षा जुड़ी हुई होनी चाहिए। यही कारण है कि भगवान् राम रावण पर तब तक प्रहार नहीं करते, जब तक विभीषण उनसे अनुरोध नहीं करते। और ये विभीषण, गोस्वामीजी की भाषा में, ज़ीव है– **जीव भवदंघ्रि–सेवक–विभीषण**' ('विनय-पत्रिका,'५८/६)। तात्पर्य यह है कि क्या जीव चाहता है कि उसके जीवन में बुराइयाँ मिट जायँ ? क्या हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि हमारे जीवन में एक भी पाप या दोष न रह जाय ? यदि हम इस प्रश्न का उत्तर बिना विचार किये दें, तो शायद यह कहें कि प्रत्येक व्यक्ति बुराई और दोष का नाश चाहता है, पर अन्तरंग में यदि पैठकर देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि हम वास्तव में बहुत अधूरे मन से भगवान् से कहते हैं कि आप हमारी बुराइयों और पापों को दूर कर

दीजिए। और जब हम भगवान् से यह कहते हैं कि आप हमारी बुराई और पाप का नाश कर दीजिए, तब शायद हमारे मन में एक चालाकी छिपी होती है। वह क्या ? यह कि जब हम भगवान् के सामने कहेंगे कि प्रभु, हमारे मन के पाप मिट जायँ, उसमें भक्ति आ जाय, तो भगवान् समझेंगें कि शायद भला आदमी है, जो भक्ति की माँग कर रहा है। और जब हम भगवान् की नजरों में भले बन जाएँगे, तो हम जो माँगेंगे, वे वही देंगे। यह मानो भगबान् पर अपनी सज्जनता की धाक मनाने का का प्रयास है, जैसा कि हम संसार में दूसरों के साथ करते हैं और यह दिखाने की चेष्टा करते हैं कि हम भले आदमी हैं। अपने इस अभ्यास के कारण हम ईश्वर से भी चालाकी करते हैं, जैसा कि सुग्रीव ने किया !

जब भगवान् राम ने सुग्रीव के समक्ष प्रतिज्ञा करते हुए कहा कि मैं एक बाण से बालि का वध करूँगा--

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ॥ ४/६

--तो यह सुनकर सुग्रीव कहते हैं --

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती।
सब तजि भजनु करौं दिन राती ॥ ४/६/२१

सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं।
मायाकृत परमारथ नाहीं ॥

बालि परम हित जासु प्रसादा।
मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा ॥ ४/६/१८-१९

'प्रभु, मुझ पर तो ऐसी कृपा करें कि मैं सब कुछ

छोड़कर आपका भजन करूँ। यह संसार तो मायाकृत है, शत्रु-मित्र तो मिथ्या हैं। बालि के प्रति भी मेरे मन में कोई ईर्षा-द्वेष नहीं !' ये सुग्रीव मानो हम लोगों का ही प्रतिनिधित्व कर रहे हैं ! तभी तो व्यंग्य आता है कि जब सुग्रीव और बालि के युद्ध में बालि सुग्रीव पर प्रहार करता है और सुग्रीव पिटते हैं, तो वे प्रभु के पास आकर उलाहना देते हैं कि आपने तो बालि को मारने की बात कही थी, फिर मारा क्यों नहीं ? इस पर प्रभु के अधरों पर हँसी खेल उठती है। प्रभु कह सकते थे कि मैं तो मारना चाहता था, पर तुम्हीं ने ऊँचा ज्ञान बघारा कि शत्रु-मित्र मिथ्या हैं, और जब तुम्हारा ज्ञान इतना ऊँचा है, तो मैं कोई अज्ञानी तो हूँ नहीं ! पर प्रभु ऐसा नहीं कहते। इधर सुग्रीव की मनोवृत्ति यह है कि जब भगवान् राम ने बालि को मारने की प्रतिज्ञा कर ली है, तो वे उसे अवश्य मारेंगे, फिर मैं भाई को मरवाने का कलंक क्यों लूँ ? क्यों न मैं लोगों के सामने भला बना रहूँ ? क्यों न मैं श्री राम से कह दूँ कि बालि तो मेरा परम हितैषी है, उसी के कारण आप मुझे मिले हैं ? अब मैं भले ही बालि की प्रशंसा करूँ, पर श्री राम अपने सत्य की रक्षा के लिए उसे मारेंगे ही। मैं तो श्री राम से कह दूँ कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, पर हाँ जब आप कह चुके हैं और अपनी बात रखना चाहते हैं तो और बात है। यह जीव की मनोवृत्ति है। वह छल करता है।

तो, जब सुग्रीव ने बालि से पिटकर प्रभु को बालि को

मारने के लिए उलाहना दी, तो प्रभु क्या करते हैं? भगवान् श्री कृष्ण ने तो अर्जुन को फटकार दिया था, कहा था ('गीता', २/११) —

> अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
> गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

'तू न शोक करने योग्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों के-से वचन कहता है।' पर भगवान् राम बड़े मृदुभाषी हैं। वे सुग्रीव को फटकार नहीं पाते, केवल मुसकराकर धीरे से कहते हैं—

> एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ।
> तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥ ४/७/५

—'तुम दोनों भाइयों का एक-सा ही रूप है। इसी भ्रम से मैंने उसको नहीं मारा।' प्रभु का व्यंग्य यह है कि सुग्रीव, लगता है मेरा सारा ज्ञान तुम्हारे पास चला गया और तुम्हारा सारा भ्रम मुझमें आ गया। तभी तो तुम इतने बड़े तत्त्वज्ञ हो गये हो कि तुम्हारे लिए शत्रु-मित्र में भेद नहीं रह गया है, और मेरी आँखें इतना धोखा खाने लगी हैं कि मैं तुममें और बालि में अन्तर नहीं कर पा रहा हूँ!

तात्पर्य यह है कि सुग्रीव छल करते हैं—वे धर्म और ज्ञान की दोहाई देते हैं। हम भी इसी प्रकार ईश्वर से छल करते हैं; मुँह से तो प्रार्थना करते हैं कि हमारे पाप नष्ट कर दो, पर भीतर से वह नहीं चाहते। ईश्वर में दोषों को नष्ट करने की पूरी क्षमता है, पर जब तक

हम पूरे मन से दोषों का नाश नहीं चाहेंगे, वे दोषों को नष्ट नहीं करेंगे। बहुधा होता यह है कि हम पाप से नहीं डरते, पाप के परिणाम से डरते हैं। अतः हमारी मुख्य माँग यह नहीं होती कि हमारे पाप नष्ट हो जायँ, बल्कि यह होती है कि हम पाप तो कर लें, पर उसका परिणाम न भोगना पड़े। हम ईश्वर से यह प्रार्थना नहीं करते कि हमारी चोरी छूट जाय, अपितु यह करते हैं कि हमारा जेलखाना छूट जाय। हम चोरी तो करते रहें, पर जेल जाने का समय आने पर ईश्वर से कहें कि प्रभु, हमारी रक्षा के लिए आ जाओ, हमें बचा लो। तात्पर्य यह है कि चोरी में यदि हमें कोई बुराई दिखायी देती है, तो कारागार के कारण। पर जिस समय बुराई में पूरी तरह से बुराई ही दिखने लगती है, जब हम अपने पूरे अन्तःकरण से बुराई का नाश चाहते हैं, तो प्रभु इसमें हमारे सहायक होते हैं।

कल यही प्रसंग आपके सामने चला था कि विभीषण ने जब रावण को असली रूप में पहचान लिया, तो वे उसे छोड़कर प्रभु की ओर चल पड़ते हैं। जब तक उन्होंने रावण को भाई के रूप में, एक धर्मात्मा व्यक्ति के रूप में देखा, तब तक वे रावण के साथ समझौता करते रहे और तब तक उनके जीवन में भगवान् की उतनी आवश्यकता महसूस नहीं हुई। और इसीलिए भगवान् ने भी उनकी कोई विशेष सहायता नहीं की। हाँ, प्रभु उन्हें कुछ सूत्रों के माध्यम से संकेत अवश्य देते

रहे। पर जिस समय विभीषण उन संकेतों को ग्रहणकर रावण के अत्याचार को समझने में समर्थ होते हैं, यह अनुभव करते हैं कि रावण के अत्याचार तो असह्य हैं, यही नहीं, जब वे रावण के द्वारा तिरस्कृत होते हैं और उसकी लात खाते हैं, तब उनको हृदय से लगता है कि अब हम रावण के साथ नहीं रह सकते और वे प्रभु की ओर चल पड़ते हैं। यही जीव का सब बुराइयों को छोड़ ईश्वर की ओर चल पड़ने का, ईश्वर की शरणागति का संकल्प है।

जबविभीषण चले, तो गोस्वामीजी कहते हैं, बीच में चार सौ कोस का समुद्र पड़ा। विभीषण ने उसे पार किया। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा — विभीषणजी ने कितने समय में वह समुद्र पार किया? गोस्वामीजी अपनी भावनात्मक भाषा में हैं- -'सपदि' (५/४२/१)– बड़ी शीघ्रता से। यह कोई भौगोलिक गणित नहीं है, यह हृदय का उद्‌गार है। गोस्वामीजी से पूछा गया– विभीपण किस चाल से चले और उन्हें समुद्र को पार करने में कितने घण्टे, कितने मिनट लगे ? तो इसके उत्तर में गोस्वामीजी ने एक सूत्र दे दिया –

एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा ।
आयउ सपदि सिंधु एहिं पारा ।। ५।४२/१

– विभीषणजी ने समय का कोई ख्याल ही नहीं किया इस यात्रा में उन्हें न तो समुद्र दिखायी पड़ा, न उस पार की दूरी दिखायी पड़ी, न उन्हें इसका भान था कि मेरी

चाल कितनी है। वे तो तन से समुद्र पार कर रहे थे और मन कहीं और था। यह सत्य प्रत्येक जीव के लिए लागू होता है। यदि हम दूरी की गणना करेंगे और अपनी चाल की ओर दृष्टि डालेंगे, तो सम्भव है कि हममें अवसाद आ जाए, थकान से हम ग्रस्त हो जाएँ, पर विभीषण के समान चलें, तो बड़ से बड़ा व्यवधान, बड़ी से बड़ी कठिनाई, बड़े से बड़ा समुद्र हम सहज ही पार कर लेंगे। विभीषण कैसे चल रहे थे ?--'एहि विधि करत सप्रेम बिचारा'--वे मार्ग भर प्रेम सहित विचार करते चल रहे थे, यानी प्रेम और विचार से भरकर चल रहे थे अर्थात् हृदय और मस्तिष्क को प्रभु में लगाये हुए चल रहे थे। क्रिया तो शरीर से हो रही थी, शरीर यात्रा कर रहा था, पर उनका हृदय और मस्तिष्क प्रभु में डूबा हुआ था। गोस्वामीजी विभीषण के चलने का वर्णन करते हुए लिखते हैं -

> **चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।**
> **करत मनोरथ बहु मन माहीं॥**
> **देखिहउँ जाइ चरन जल जाता।**
> **अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥ ५।४१।४-५**

और फिर यह भी लिखते हैं कि समुद्र पार करते समय विभीषण के मन में कौन से विचार उठ रहे थे। उन विचारों को वे छः सूत्रों में बाँधते हैं। यदि साधक इन छः सूत्रों पर ध्यान देता है तो उसे भी इस भव-समुद्र को पार करने में रंच मात्र विलम्ब नहीं लगता। ये छः

सूत्र कौन से हैं ? गोस्वामीजी कहते हैं —

जे पद परसि तरी रिषिनारी ।
दंडक कानन पावन कारी ॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए ।
कपट कुरंग संग धर धाए ॥
हर उर सर सरोज पद जेई ।
अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥ ५/४२

—'मैं उन चरणों के दर्शन करूँगा, जिनका स्पर्श पाकर ऋषिपत्नी अहल्या तर गयीं और जो दण्डक वन को पवित्र करने वाले हैं। मैं उन चरणों के दर्शन करूँगा, जिन्हें जानकीजी अपने हृदय में धारण करके रखती हैं और जो कपटमृग के साथ पृथ्वी पर दौड़े थे। मैं उन चरणों के दर्शन करूँगा, जिन्हें शिवजी अपने हृदय-सरोवर में निरन्तर कमल की तरह रखते हैं। मैं कितना सौभाग्यशाली हूँ, जो उन चरणों के दर्शन करूँगा, जिनकी पादुकाओं में भरतजी ने अपना मन लगा रखा है।'

ये छः सूत्र हैं। इनमें छः पात्रों के नाम का उल्लेख है इन सूत्रों पर थोड़ी गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। समयाभाव के कारण विस्तार से चर्चा तो नहीं कर पाएँगे, सूत्ररूप में कुछ बातें आपके सामने रखेंगे। इन छः सूत्रों में तीन निदान हैं और तीन औषध यों कह सकते हैं कि इनमें तीन उत्कृष्ट पात्र हैं और तीन निम्न। निम्न पात्र हैं— मारीच, दण्डकवन और अहल्या। उच्च पात्र हैं–शंकरजी

सीताजी और श्री भरत। इन छहों को विभीषण भगवान् के चरणों से सम्बद्ध करते हैं। मनुष्य के जीवन में पहले तो रोग या पाप की समस्या है, फिर उनके निवारण की। पाप भी तीन प्रकार के होते हैं और उनके प्रतीक हैं--दण्डक वन अहल्या, और कपटमृग। एक पाप वह है, जो हम स्वेच्छा से करते हैं; दूसरा वह, जो अनिच्छा से किया जाता है; और तीसरा वह है, जो परेच्छा से होता है। इसे यों भी कह सकते हैं–अहंकारजन्य पाप, बुद्धि के द्वारा होनेवाला पाप और मन के द्वारा होनेवाला पाप। कुछ पाप ऐसे होते हैं, जिन्हें हम जान-बूझकर करते हैं--ये हैंअहंकारजन्य पाप। कुछ पाप ऐसे होते है, जिन्हें हम पाप समझ ही नहीं पाते, बुद्धि के भ्रम के कारण हम उन्हें पुण्य समझ-कर करते हैं। ये बुद्धि की भ्रान्ति से उपजने वाले पाप हैं। तीसरे प्रकार का पाप वह है, जिसे हम करना नहीं चाहते, पर हमें करने के लिए इन्द्रियों की ओर से बाध्य किया जाता है। इन तीन के अतिरिक्त मनुष्य के जीवन में चौथे प्रकार का पाप नहीं होता। यदि आप ध्यान से इन पात्रों पर विचार करें, तो उनके जीवन में इन्हीं तीन पापों का दृष्टान्त मिलेगा। दण्डक वन के रूप में जो पाप है, वह अहंकारजन्य है। अहल्या के जीवन का पाप बुद्धि की भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ है और मारीच के जीवन में जो पाप है, वह परेच्छा से, समस्याओं द्वारा प्रेरित होकर किया गया है। आइए, इन पर थोड़े विस्तार से चर्चा करें।

पहले अहल्या को ले लें। अहल्या के जीवन का पाप वस्तुतः उसका समझा हुआ पाप नहीं है। कथा आती है कि अहल्या के सौन्दर्य पर इन्द्र आकृष्ट हो गया। वह ऐसी माया करता है, जिससे अहल्या के पति गौतम ऋषि को भोर होने की भ्रान्ति हो जाती है और वे उठकर स्नान करने चले जाते हैं। तब इन्द्र गौतम का वेश बनाकर अहल्या के पास आता है। अहल्या इन्द्र के इस छल को समझ नहीं पाती और उनके द्वारा ठगी जाती है। यदि इस कथा पर हम आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें, तो हम सबके जीवन का सत्य दिखायी देता है। गौतम धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी पत्नी अहल्या बुद्धि का। धर्म पति है और बुद्धि उसकी पत्नी। जैसे पति-पत्नी का अभिन्न सम्बन्ध होता है, वैसे ही धर्म और बुद्धि का भी। बुद्धि को चाहिए कि वह निरन्तर धर्म की सेवा करे। लेकिन कभी ऐसी स्थिति आ जाती है, जब वह धर्म के बदले भोग की सेवा करने लगती है। इन्द्र स्वर्ग का राजा है, इसलिए भोगों का स्वामी है। कभी कभी भोग हमारे जीवन में धर्म का रूप बनाकर आता है और बुद्धि भ्रान्ति के करण उस भोग को ही धर्म समझकर उसकी सेवा में लग जाती है। अहल्या की समस्या यही है। वह यह नहीं समझती कि वह पाप कर रही है। वह तो यही मानती है कि पतिदेव मेरे सामने खड़े हैं और उनकी आज्ञा का पालन करना मेरा कर्तव्य है। जब बुद्धि इस प्रकार धर्म के स्थान पर भोग का समर्थन

करने लगती है, तब परिणाम यह होता है कि वह धर्म से अलग हो जाती है और उसमें की चेतना गौतमरूप धर्म के शाप से जड़ हो जाती है। तात्पर्य यह कि यदि हम बुद्धि द्वारा धर्म के स्थान पर भोगों का समर्थन करेंगे, तो भौतिकवादी, जड़वादी बन जाएँगे तथा धर्म और अध्यात्म की हमारी चेतना समाप्त हो जायगी।

इसी को लक्ष्य कर गोस्वामीजो 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं कि प्रभु, आपने अहल्या का तो उद्धार किया आप मेरा भी उद्धार कीजिए। भगवान् कहते हैं – क्यों, तुम्हारे पास तो कोई अहल्या नहीं है, फिर किसका उद्धार करूँ? गोस्वामीजी कहते हैं—प्रभु, ऐसी बात नहीं, मेरे जीवन में भी अहल्या है— 'सहस सिलातें अति जड़ मति भई है' (१८१/२)—मेरी बुद्धि हजार शिलाओं से भी अधिक जड़ हो गई है। प्रभु, अहल्या ने तो एक बार ही धोखा खाया पर मेरी बुद्धि तो नित्य भोग को ही धर्म मानकर ग्रहण कर रही है। यह रामायण का बड़ा सांकेतिक प्रसंग है। इसे यों कह लीजिए कि कुछ लोग भोग को भोग मानकर ही ग्रहण करते हैं, पर कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो भोग धर्म समझकर स्वीकार करते हैं। इस दूसरे प्रकार के लोगों में अवश्य कोई ग्रन्थि है, भ्रान्ति। वे यदि थोड़ा सचेत होते, तो इस प्रकार ठगे न जाते।

अहल्या का उदाहरण ले लें। यह ठीक है कि वह इन्द्र को पहचान न पायी। आकृति को पहचानने में वह भूल कर सकती है, पर गौतमवेशधारी इन्द्र ने जो

प्रस्ताव रखा, उसे तो वह अस्वीकार कर ही सकती थी। कहा जा सकता है कि वह पति की आज्ञाकारिणी थी, ओर छोटों को बड़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए-- पत्नी को पति की आज्ञा का, शिष्य को गुरु का और पुत्र को पिता का। तो, प्रश्न उठता है कि क्या सभी प्रकार की आज्ञा पालनीय है ? यदि बड़े लोग गलत आज्ञा दें तो क्या उसका भी पालन किया जाना चाहिए? यदि अहल्या ने धर्म के सच्चे अर्थ को समझा होता, तो भले ही उस समय वह इन्द्र को न पहचान पायी, पर वह अपने आप को बचा सकती थी ; अन्ततः वह गौतम से कह सकती थी कि आप तो स्नान करने के लिए जा रहे थे और इस ब्राह्मवेला में आप जैसे महापुरुष के लिए क्या इस प्रकार का प्रस्ताव उचित हो सकता है ? पर अहल्या ने वैसा नहीं किया और वह ठगी गयी। अतः आज्ञाकारिता सामान्य सन्दर्भों में भले ही एक गुण हो सकती है, पर हर सन्दर्भ में नहीं। जैसे 'रामचरित-मानस' में हम पढ़ते हैं--श्री वसिष्ठ भरत से कहते हैं कि तुम अयोध्या का राज्य स्वीकार कर पिता की आज्ञा का पालन करो, इसमें उचित-अनुचित का विचार मत करो--

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन ॥ २/१७४

--इससे जीते-जी तुम्हें सुख और सुयश मिलेगा तथा मरने के बाद स्वर्ग। तो क्या पिता की आज्ञा को बिना विचार के मान लिया जाय ? क्या उक्त कथन का यही

आशय है ? नहीं ऐसा नहीं है। जब पुत्र से पिता की आज्ञा को बिना विचार किये मानने की बात कही जाती है, तो यह आशा की जाती है कि पिता विचारपूर्वक आज्ञा देंगे। यदि पिता विचारपूर्वक आज्ञा न दें, तब तो पुत्र को विचार करके आज्ञा को ग्रहण करना होगा। यह विचार न करने की बात इसलिए कही गयी कि दो विचारों में टकराहट न हो। पर इसका मतलब यह नहीं कि पिता अपना अधिकार समझते हुए पुत्र को जो चाहे आज्ञा दे दें। उक्त सूत्र को यदि पिता अपना विशेषाधिकार बना लें और पुत्र को यथेच्छ आज्ञा देते रहें, तो पुत्र आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य नहीं रहेगा।

एक कालेज में मैं बोलने के लिए गया। मैंने पूछा-किस विषय पर बोला जाय ? तो मुझसे कहा गया--आप इस पद पर विचार व्यक्त करें--

प्रातःकाल उठि कै रघुनाथा।
मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥ १/२०४/७

अब इसका क्या तात्पर्य ? यदि कोई गुरु इस पद का उद्धरण देकर विशेषाधिकार के रूप में शिष्य से आदर पाना चाहे, तो वह गुरु के गरिमामय पद के उपयुक्त नहीं है। जैसे एक न्यायाधीश है। यह ठीक है कि न्यायाधीश जो आज्ञा देगा, उसे मानना होगा, पर यह तो देखना पड़ेगा कि न्यायाधीश अपने पद पर बना हुआ है या नहीं, वह न्यायाधीश के पद से हटा तो नहीं दिया गया है ? इसी तरह जब गुरु या माता-पिता आज्ञा देते

हैं, तब यह देखना चाहिए कि गुरु ने गुरुत्व पर और पिता ने पितृत्व पर स्थित होकर ही आज्ञा दी है या नहीं। यदि ऐसा न हो, यदि गुरु ने गुरुत्व में बिना स्थित हुए आज्ञा दी हो और व्यक्ति उसे गुरु की आज्ञा समझकर उसका पालन कर ले, तो वह वस्तुतः धर्म पालन की भ्रान्ति में अधर्म का पालन कर लेता है। तभी तो एक सांकेतिक बात आती है। पार्वतीजी शंकर को पाने के लिए तपस्या कर रही हैं। सप्तर्षिगण उनके पास जाकर पूछते हैं––आप तो शंकरजी को पाने के लिए तपस्या कर रही हैं, पर यदि भगवान् शंकर ही आकर आपको तपस्या करने से रोकते हुए कहें कि मुझे पाने के लिए तपस्या मत करो, तब आप क्या करेंगी ? आप तो शंकरजी की भक्त हैं, उनकी बात को मानेंगी या नहीं ? इस पर पार्वतीजी ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया, कहा–

> **तजऊँ न नारद कर उपदेसू।**
> **आपु कहहिं सत बार महेसू।। १/८०/६**

––'यदि शंकरजी सौ बार भी कहें, तब भी मैं नहीं मानूँगी। यही धर्म का असली तथ्य है। पार्वतीजी का तात्पर्य यह है कि शंकरजी की आज्ञा मानने का मेरा धर्म इसलिए बना कि उनसे मेरा प्रेम है। अब यदि शंकर आदेश देते हैं कि तुम मुझसे प्रेम करना छोड़ दो तो जिस आधार पर मैं उनकी आज्ञा का पालन करती, वही नष्ट हो जायगा। ऐसी दशा में उन्हें आज्ञा देने का अधिकार ही कहाँ रह जायगा ? यही धर्म की वास्तविक समझ है। इस प्रकार

की विषम स्थिति में करणीय क्या है, इसे समझाने के लिए 'रामचरितमानस' में एक सरल कसौटी बतायी गयी है। वह यह है कि आज्ञा का पालन तब करना चाहिए जब हम पहचान लें कि गुरु गुरुत्व में स्थित हैं, पिता पितृत्व में खड़े हैं। अहल्या को गौतमवेशधारी इन्द्र की आज्ञा मानने से पूर्व यह तो विचार करना था कि गौतम-जैसे संयमी और त्यागी महर्षि के लिए क्या यह सम्भव है कि ब्राह्ममुहूर्त में स्नान करने जाते समय वह वासना से इतने अनियंत्रित हो जाय कि लौटकर पत्नी से अनुचित प्रस्ताव करे ? क्या हमारा गुरु हमें भोग की आज्ञा देगा ? हमारा हित चाहनेवाला पिता क्या हमें भोग की ओर प्रवृत्त करेगा ? यदि हमारे गुरुजन हमें भोग की ओर प्रवृत्त करते हैं, तो निश्चय है कि उन्हें हमारे हित का ध्यान नहीं है और वे किसी स्वार्थ या वासना के प्रलोभन में पड़कर ऐसा कर रहे हैं।

रामायण में इस तरह के कई प्रसंग हैं, पर विस्तार के भय से केवल और दो एक प्रसंगों की चर्चा कर लें। भगवान् राम ने लक्ष्मण से कहा कि तुम मेरे साथ वन मत चलो। पर लक्ष्मणजी ने नहीं माना। श्री राम ने सीताजी से भी साथ चलने की मनाही की, पर उन्होंने भी श्री राम का कहना अस्वीकार कर दिया। सुमन्त ने भगवान् राम से कहा-- आपके पिता महाराज श्री दशरथ ने कहा है, कि आप लोगों को चार दिन वन में घुमाकर वापस अयोध्या ले चलूँ--

रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गएं दिन चारि । २/८१

पर भगवान् राम ने इसे नहीं माना । भरतजी को गुरु वसिष्ठ के द्वारा पिता का आदेश सुनाया गया कि तुम्हें अयोध्या का राज्य स्वीकार करना है, पर भरतजी ने उसे अमान्य कर दिया । अब ये पात्र ही तो हमारे धर्म के सर्वोच्च आदर्श हैं और ये बड़ों का आदेश नहीं मानते । क्यों ? इसलिए कि वे देखते हैं कि आदेश का आधार भोग है । वस्तुतः धर्म का उद्देश्य भोग पर नियंत्रण है, न कि भोग का समर्थन । भोग के समर्थन के लिए कोई भाष्य बनाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति है। उस सहज प्रवृत्ति का समर्थन करने के लिए यदि भाषण दिया जाय, गीता या रामायण का निर्माण किया जाय, तो वह सब व्यर्थ है । वास्तव में धर्म तो वह है, जो इस सहज प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करे । इसलिए इन लोगों ने एक कसौटी बनायी कि आज्ञा भोग के लिए दी जा रही है या त्याग के लिए ? और उन्होंने भोग के लिए दी जा रही आज्ञा को स्वीकार नहीं किया ।

भगवान् राम ने सीताजी से कहा --तुम अयोध्या में रहो, मेरे साथ मत चलो । सास-ससुर की सेवा करना सबसे बड़ा धर्म है । तुम तो धर्म का पालन करने ही के लिए मेरे साथ वन जाना चाहती हो । अतः जब घर में रहकर तुम इस धर्म का पालन कर सकती हो, तो मेरे साथ जाने की क्या आवश्यकता ? --

एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा।
सादर सासु ससुर पद पूजा॥ २/६०/५

सीताजी प्रभु की चतुराई को समझ लेती हैं। उनके सामने दो धर्म हैं --एक, पति के साथ वन को जाना और दूसरा, घर पर रहकर सास-ससुर की सेवा करना। यदि सीताजी पहला धर्म स्वीकार करती हैं, तो उन्हें वन के कष्टों को स्वीकार करना पड़ेगा, असुविधाएँ झेलनी होंगी, विपत्तियाँ सहनी पड़ेंगी, और यदि वे दूसरा धर्म स्वीकार करती हैं, तो उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होंगी, वे सास-ससुर की सेवा के नाम पर घर में रहकर राजवैभव का उपभोग कर सकेंगी, आराम से रह सकेंगी और वन के कष्टों से बच जाएँगी। पर सीताजी दूसरे धर्म के सुख-वैभव को त्यागकर पहले धर्म के कष्टों का वरण करती हैं। उनके सामने सरल-सी कसौटी है। जिस धर्म को स्वीकारने से जीवन में त्याग और कष्ट को स्वीकारना होगा, सीताजी उस धर्म का चुनाव कर लेती हैं। आगे चलकर यही कसौटी सीताजी के धर्म की परिपूर्णता का परिचायक बनती है। वे भोग के मार्ग के बदले कष्ट के मार्ग का वरण कर भगवान् राम को निरुत्तर कर देती हैं। प्रभु ने सीताजी से यह तो कहा ही कि सास-ससुर की सेवा से बढ़कर धर्म नहीं है, पर उसके साथ साथ उनके मुँह से यह भी निकल गया कि तुम सुकुमारी हो और वन का रास्ता बड़े जोखिम का है --

कंदर खोह नदीं नद नारे।
अगम अगाध न जाहिं निहारे॥
भालु बाघ बृक के हरि नागा।
करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥ २/६१/७-८
डरपहिं धीर गहन सुधि आएं।
मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएं।
हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू।
सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥ २/६२/४-५

यह सुनकर सीताजी कहती हैं कि धर्म की कसौटी दो नहीं हो सकती। जो धर्म आपके लिए है, वही मेरे लिए भी है। आपके लिए यदि धर्म त्याग और कष्ट सहन में है, तो वही मेरे लिए भी सत्य है। यह नहीं हो सकता कि आपके लिए वनगमन और तपस्या उचित हो और मेरे लिए विषय-भोग--

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥ २/६६/८

और प्रभु यह सुनकर निरुत्तर रह गये।

लक्ष्मण जी ने भी अपने लिए त्याग और कष्ट का पथ स्वीकार किया। प्रभु उन्हें भी अपने साथ वन जाने से मना करते हैं, पर उनसे वे यह तो नहीं कह सकते कि तुम्हें कष्ट होगा। तर्क को थोड़ा बदलते हुए वे लक्ष्मण से कहते हैं

भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥ २/७०/२,५

--वे लक्ष्मण को वन के कष्टों का भय नहीं दिखाते हैं, न ही भोग का प्रलोभन देते हैं, अपितु कर्तव्य और सेवा-धर्म की सीख देते हैं; कहते हैं कि लक्ष्मण, तुम छोटे हो, और छोटे को क्या उचित नहीं कि वह बड़े का बोझ उठाये ? लक्ष्मणजी तुरत समझ गये कि प्रभु क्या कहना चाहते हैं। वे तो जानते थे कि अयोध्या में उनका रहना जरूरी नहीं है। जब भरत राज्य करेंगे, सारे मंत्री हैं, गुरुदेव हैं, तब मेरी उपस्थिति की क्या आवश्यकता ?--यह बात लक्ष्मणजी भलीभाँति समझते हैं और वे यह भी जानते हैं कि भगवान् राम भी यह बात समझते हैं, पर प्रभु यह नहीं चाहते कि लक्ष्मण उनके साथ जाकर वन के कष्ट सहें, इसलिए वह लक्ष्मण को कर्तव्य और सेवाधर्म का उपदेश देते हैं। लक्ष्मण प्रभु के कथन के उत्तर में कहते हैं-प्रभो, मैं धर्म की बात जानता नहीं, पर हाँ, यह अवश्य है कि मैं छोटा हूँ। अब प्रभो, यदि एक पच्चीस बरस का हो और दूसरा बीस बरस का, तो बीस बरस वाले के लिए यह तो उचित होगा, कि वह बड़े का बोझ उठाए, पर यदि दूसरा मात्र तीन-चार बरस का हो और पच्चीस बरस का व्यक्ति उससे कहे--तुम छोटे हो, इसलिए बोझ तुम उठाओ तो यह उचित नहीं होगा, बल्कि अनर्थ हो जायगा। उचित तो यह होगा कि बड़ा ही छोटे का भी भार उठाए। मैं तो नन्हा बच्चा हूँ, मेरा बोझ तो आपको ही ढोना है। और सचमुच, लक्ष्मणजी अपने को एक नन्हा शिशु ही समझते

हैं। वे कहते भी हैं--

मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला।

मंदरु मेरु कि लेहिं मराला।। २/७१/३

--हंस से मन्दराचल या सुमेरु पर्वत को उठाने की आशा नहीं की जा सकती। इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मणजी भी भोगमूलक आज्ञा को स्वीकार नहीं करते।

यही दर्शन भरतजी का भी है। गुरु वसिष्ठ उन्हें राज्य देने लगे। कहा कि यह तुम्हारे पिता की आज्ञा है। उन्होंने फिर ययाति का दृष्टान्त दिया कि कैसे उसके पुत्र ने अपने पिता की आज्ञा का पालन किया। गुरु वसिष्ठ का संकेत यह था कि ययाति का पुत्र भी तुम्हारे ही समान धर्म का ज्ञाता था अतः उसने जिस प्रकार पिता की आज्ञा मानकर धर्म का पालन किया, उसी प्रकार तुम भी करो। इस पर भरतजी ने महर्षि वसिष्ठ से कहा--गुरुदेव, ययाति के पुत्र ने त्याग की आज्ञा मानी थी। उसके पिता ने उसे अपना यौवन देने की आज्ञा दी थी और वह उसने सहर्ष स्वीकार कर ली थी। पर यहाँ तो राज्य लेने की आज्ञा है, देने की नहीं। यदि पिता ने मुझसे देने के लिए कहा होता, तो मैं सहर्ष दे देता।

तो, यहाँ पर भी त्यागमूलक आज्ञा को स्वीकारने की बात है। यदि आज्ञा भोगमूलक हो, तो विचार करके देख लेना चाहिए कि सामनेवाला किसी प्रलोभन या स्वार्थ में पड़कर तो कहीं आज्ञा नहीं दे रहा है। फिर अपने बारे में भी विचार करना चाहिए कि कहीं ऐसा तो

नहीं है कि हम अपनी बुद्धि की भ्रान्ति के कारण या किसी भोग की आसक्ति के कारण भोग को ही धर्म के रूप में स्वीकार कर रहे हों। यदि अहल्या ने धर्म की इस कसौटी का प्रयोग किया होता, तो वह जिस तरह इन्द्र को गौतम मान बैठी, वैसा न करती और शायद बच जाती। पर बुद्धि आगे नहीं बढ़ पायी। उसने आकृति को ही देखा और धर्म का मोटा अर्थ ले लिया कि पतिव्रता स्त्री को पति की आज्ञा माननी चाहिए। बुद्धि की इस भ्रान्ति का परिणाम यह हुआ कि अहल्या जड़ हो गयी, पत्थर हो गयी। यह बुद्धि की भ्रान्ति के द्वारा होनेवाला पाप है।

दूसरा दण्डक वन का पाप है। दण्ड राजा की कथा भी बड़ी सांकेतिक है। यह पाप अहंकार के कारण होता है। एक राजा थे दण्ड। राजा के हाथ में दण्ड समाज के नियंत्रण के लिए प्रदान किया गया। राजा को दण्ड देने का अधिकार है। जो व्यक्ति अपने साथ दण्ड रखता है, उस पर बहुत बड़ा भार आ जाता है, क्योंकि दण्ड ऐसी वस्तु है, जिसका सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों किया जा सकता है। हम जब किसी के हाथ में दण्ड देते हैं, तो यही आशा रखते हैं कि वह दण्ड का सदुपयोग ही करेगा। वैसे तो दण्ड राजा धर्मपूर्वक ही शासन कर रहा था, पर शुक्राचार्य की कन्या को देख वह मुग्ध हो गया। कन्या ने उसे समझाया कि मैं आपके गुरु की पुत्री हूँ। इसलिए आपकी भगिनी तुल्य हूँ, अतः आपके मन

में वासना नहीं आना चाहिए। पर दण्ड तो दैत्य था, उसने कन्या की बात सुनी नहीं। उसने सोचा कि मैं तो राजा हूँ। अब प्रश्न यह है कि राजा कौन है? वास्तव में जो अपने मन पर नियन्त्रण रखे वही राजा है। पर जब राजा ही नियन्त्रण खोकर डाका डालने लगे, तब कौन नियन्त्रण करेगा?

यही बात हनुमान्‌जी ने रावण से कही थी। हनुमान्‌जी रावण के बाग के फल खाकर, जान-बूझकर नागपाश में बँध गये। रावण ने अपने पुत्र मेघनाथ से कहा था कि मैं तो न्यायी राजा हूँ इसलिए बन्दर को मारना मत, बाँधकर ले आना। मैं देखना चाहता हूँ कि वह बन्दर कौन है?--

मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही ॥
देखिअ कपिहि कहाँ कर आही ॥ ५/१८/२

--और हनुमान्‌जी को नागपाश में बाँधकर मेघनाद रावण की सभा में ले जाता है। हनुमान्‌जी का अपराध मात्र इतना था कि उन्होंने बिना पूछे बाग के फल खा लिये थे, इसलिए चोरी के अपराध में वे रावण की सभा में कैदी बनाकर लाये गये। वहाँ उनकी हँसी उड़ायी गयी। फिर रावण ने हनुमान्‌जी से पूछा--तुमने बाग का फल क्यों खाया? हनुमान्‌जी बोले--भूख लगी थी तो खा लिये--'**खायउँ फल प्रभु लागी भूखा**' (५/२१/३)। हनुमान्‌जी के इन वचनों में एक व्यंग्य था, वह यह कि रावण, मैंने बाग का फल बिना पूछे खा लिया, तो तूने मुझे पकड़कर बुलवाया

है, पर तू सारे संसार का शासक होकर भी जो सीताजी को चुराकर ले आया है, तो तेरा न्याय कौन करेगा ? तात्पर्य यह है कि यदि न्यायाधीश स्वयं अन्याय करे, यदि दण्डदाता स्वयं दण्ड का दुरुपयोग करे, तो समाज की रक्षा कैसे हो सकती है ? दण्डदाता दण्ड का दुरुपयोग तब करता है, जब वह देखता है कि सत्ता मेरे हाथ में है, मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ। मेरे पास सामर्थ्य है, बल है। इसका अर्थ हुआ कि असमर्थ व्यक्ति कोई दोष करे तो अपराधी है, पर समर्थ व्यक्ति यदि दोष करे, तो वह अपराध नहीं है ! तो, दण्ड ने वासना से मोहित हो अपराध किया। शुक्राचार्य ने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया कि तुम्हारा सारा राज्य, सारी भूमि श्मशान में परिवर्तित हो जाय। दण्ड का राज्य दण्डकारण्य की भूमि पर था। शुक्राचार्य के शाप से वह शापित वन हो गया। तो, यह जो दण्ड का पाप है, वह अहल्या के समान अनजान में होनेवाला पाप नहीं हैं, वह तो अहंकार के कारण, सत्ता के मद में चूर होकर किया जानेवाला पाप है।

तीसरे प्रकार का पाप वह है, जो व्यक्ति के द्वारा न चाहने पर भी हो जाता है। गीता में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से यही प्रश्न पूछा है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३/३६

—'भगवन्, वह कौन है, जो व्यक्ति के न चाहने पर भी उसे पाप में लगा देता है और व्यक्ति न चाहकर भी

पाप में संलग्न हो जाता है?' ऐसा दृष्टान्त आपको मारीच के जीवन में मिलेगा। मारीच का पाप क्या है? रावण उसके पास जाता है। आप ध्यान रखें कि अहल्या बुद्धि की प्रतीक है, दण्डक अहंकार का और यह मारीच मन का। मारीच रूप बनाने की कला में निपुण है। चंचल मन भी तो बहुरुपिया ही है। इस मारीच के पास रावण जाता है। जाकर उसे प्रणाम करता है। मारीच पूछता है--- आप अकेले कैसे पधारे? रावण कहता है-- एक काम से। "क्या काम है?" रावण कहता है--

होहु कपट मृग तुम्ह छलकारा।
जेहि बिधि हरि आनौं नृपनारी॥ ३/२४/२

--'तुम कपटमृग बन जाओ, जिससे मैं उस राजकुमार की स्त्री का अपहरण कर लूँ।' मारीच को बात पसन्द न आयी। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा---तुम जिसे छलना चाहते हो, वह तो साक्षात् ईश्वर है और अगर ईश्वर न भी हो, तो यही कहूँगा कि---

जौं नर तात तदपि अति सूरा।
तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥ ३/२४/८

---'यदि वह मनुष्य है, तो भी बड़ा शूर वीर है। उससे विरोध करने में सफलता नहीं मिलेगी।' फिर मारीच ने रावण को अपना अनुभव सुनाया---

मुनि मख राखन गयउ कुमारा।
बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥
सत जोजन आयउँ छन माहीं।
तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं। ३/२४/५-६

और यह कहकर मारीच रावण को अपने निश्चय से विरत करने की चेष्टा करता है। रावण तब क्रोधित हो कह उठता है--'गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा' (३।२५।२, मूर्ख, गुरु बनकर मुझे उपदेश देता है! मैंने तुझे प्रणाम क्या किया कि तू गुरु बन बैठा! यह तो मेरी दया थी, जो तुझे मैंने प्रणाम किया! यदि तूने मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया, तो सिर काट लूँगा!

बुरे व्यक्ति के साथ यही विपत्ति है, वह दोनों ओर से अपने को बड़ा मानता है। यदि किसी ने उसे प्रणाम कर दिया, तो सोचता है कि हम अगर बड़े न होते, तो वह क्यों प्रणाम करता? और यदि वह दूसरे को प्रणाम करे, तो सोचता है कि मैं कितना अच्छा हूँ, कितना महान् हूँ, जो दूसरे को प्रणाम करता हूँ! रावण का यही मनोविज्ञान है। वह मारीच को वह काम करने के लिए प्रेरित करता है, जो मारीच नहीं चाहता। बुद्धि तो कहती है कि यह करना ठीक नहीं, पर मन बलात् उस दिशा में चला जाता है।

इस तरह व्यक्ति के समक्ष ये तीन तरह से पाप आते हैं--अहंकारजन्य, भ्रान्त बुद्धिजन्य और मन में बलात् प्रेरणा जन्य। जब ये एक साथ व्यक्ति के जीवन में उपस्थित होते हैं, तो उसका रोग असाध्य--सा हो जाता है। ऐसी दशा में क्या किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर हमें बिभीषण के उस चिन्तन के तीन पात्रों में प्राप्त होता है, जो वे प्रभु के पास जाते हुए करते हैं।

(क्रमशः)

स्वामी अखण्डानन्दजी के संस्मरण

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हैं। उन्होंने रामकृष्ण मिशन आश्रम, सारगाछी में मार्च १९७२ में इस आश्रम के प्रतिष्ठाता स्वामी अखण्डानन्दजी के संस्मरण सुनाये थे। अखण्डानन्दजी भगवान् श्री रामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों में अन्यतम थे तथा भक्तों में गंगाधर महाराज के नाम से परिचित थे। इन संस्मरणों का बंगला से हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य ने किया है।–स०)

गंगाधर महाराज का स्वभाव था बच्चों-जैसा हम लोग उनके साथ खेल के साथियों के समान हिले-मिले थे। महापुरुषगण दूसरों के साथ मिलने पर उनके भीतर अपना भाव जगा दे सकते हैं। शुक और व्यासदेव की आख्यायिका से यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

कहीं पर कुछ नवयुवतियाँ स्नान कर रही थीं। उसी समय युवा शुकदेव नग्नकाय उधर से होकर गुजरे। स्नानरत महिलाएँ उन्हें देखने के लिए जल से निकलकर रास्ते के किनारे खड़ी हो गयीं। उन लोगों को तनिक भी संकोच न हुआ। कुछ ही क्षणों के बाद उनके पिता व्यासदेव भी उधर आये। दूर से ही उन्हें देख, लज्जित हो युवतियों ने वस्त्रादि पहन लिये। निकट पहुँचकर व्यासदेव ने उनसे पूछा, "मेरे युवा पुत्र को देखकर तुम लोगों को संकोच नहीं हुआ और मुझ वृद्ध को देखकर तुम लोग इतनी लज्जित क्यों हुई ?" तरुणियों ने कहा,

"आपके पुत्र में देह-भान नहीं है, अतः हमारा भी देह-ज्ञान विस्मृत हो गया था, पर आपमें देह-बोध है इसीलिए हम इतनी लज्जित हुई हैं।"

श्री माँ सारदादेवी एक बार जब जयरामवाटी से आ रही थीं तो रास्ते में डाकू के हाथ पड़ गयी थीं। माँ ने इतने भावपूर्वक उसे 'बाबा' कहकर पुकारा कि उस डाकू के अन्तर में तुरत पितृस्नेह उमड़ पड़ा। इसी प्रकार महापुरुष दूसरों के अन्दर अपने भाव का संचार कर दिया करते हैं।

एक बार गंगाधर महाराज उद्बोधन कार्यालय में आये हुए थे। सभी ने उनसे अनुरोध किया--"महाराज, हम लोगों को रसगुल्ले खिलाइए न।" "मेरे पास पैसे कहाँ हैं?"--उन्होंने कहा। "कहाँ से मैं तुम लोगों को रसगुल्ले खिलाऊं?" तब उनमें से एक ने उनकी टेंट में रुपया बँधा देख उसे छुआ। इस पर उन्होंने उस लड़के को पकड़ लिया और बगल के कमरे में शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) के पास ले जाकर बोले, "देखो, कैसे लड़कों का निर्माण किया है तुमने। ये जबरदस्ती मुझसे रसगुल्ले खाना चाहते हैं।" उत्तर में शरत् महाराज बोले, "वे अगर खाना चाहते हैं, तो खिला दो न।" तब गंगाधर महाराज ने कहा, "वाह! देखता हूँ तुम भी उन्हीं की बातों का समर्थन करने लगे।" असल में वे रुपये लाये थे लड़कों को मिठाइयाँ खिलाने के लिए ही। हम लोगों के साथ नोंक-झोंक करने के लिए ही उन्होंने ऐसा

किया था। हम लोगों के ऐसे आचरण से वे बहुत आनन्दित हुए थे।

मैं दो-एक घटनाओं का उल्लेख करूँगा, यह दिखाने के लिए कि स्वामी विवेकानन्दजी के प्रति उनकी कितनी श्रद्धा और भक्ति थी। उन दिनों मैं अद्वैत आश्रम में रहा करता था। एक बार गंगाधर महाराज कुछ दिनों के लिए कलकत्ते आये और पुँटिया की रानी, जिनके पौत्रगण शरत् महाराज के शिष्य थे, के मकान में ठहरे हुए थे। एक भक्त अद्वैत आश्रम में दो-एक दिन रहने के लिए आये हुए थे। उन्होंने थोड़े पैसे खर्च कर मध्याह्न-भोजन के समय साधुओं को खिलाने के लिए रसगुल्ले और कच्चे नारियल मँगाये। हम लोगों का भोजन खत्म होने के पहले ही 'उद्बोधन कार्यालय' के एक संन्यासी आ पहुंचे। उन्हें भी मिठाई और नारियल दिया गया। बाद में उन्होंने गंगाधर महाराज से कहा, "महाराज! आज अद्वैत आश्रम में बहुत बड़ा भण्डारा हुआ। रसगुल्लों की भरमार थी और कच्चे नारियलों का तो कहना ही क्या?" फिर बोले, "अद्वैत आश्रम में इतना बड़ा भण्डारा हुआ, और आप यहीं रहे, आपको उन लोगों ने निमंत्रण तक नहीं दिया?" सुनकर वे बालक के समान बोले, "अच्छा! मैं यहीं हूं, और प्रभु* ने मुझे निमंत्रण नहीं भेजा? ठहरो, आने तो दो उसे!" उक्त संन्यासी ने लौटकर मुझसे कहा, "मैने महाराज को

* वीरेश्वरानन्दजी का पूर्व नाम।

तुम्हारे खिलाफ ख़ूब भड़काया है। इस बार जाने पर मजा चखोगे।"

कुछ ही दिनों बाद मैं गंगाधर महाराज से मिलने को गया। प्रणाम करने के बाद ज्योंही मैं उनके चरणों में बैठा, पुँटिया रानी के पौत्रगण और दो-एक संन्यासी भी जो उस समय वहाँ उपस्थित थे, उत्सुकतापूर्वक आकर मेरे पास बैठ गये। इनमें वे संन्यासी भी थे, जिन्होंने मेरे विरुद्ध शिकायत की थी।

गंगाधर महाराज मौन धारण कर गम्भीरतापूर्वक बैठे रहे। मैं भी चुपचाप बैठा रहा।

कुछ क्षणों के बाद, अपनी तर्जनी से मेरी ओर इंगित करते हुए वे गम्भीर स्वर में बोले, "तुम्हारे खिलाफ मुझे कुछ कहना है।"

मैंने कहा, "मुझे भी आपके खिलाफ कुछ कहना है।"

गंगाधर महाराज--"तुम्हें क्या कहना है मेरे खिलाफ ?"

मैं--"पहले आपको जो कहना है, कह डालिए। आपका चार्जशीट देखने के बाद, मुझे जो कुछ कहना है, कहूँगा।"

इस पर वे बच्चों के समान बोले, "तो फिर निर्णायक ठीक कर लो।"

मैं--"आप ही निर्णायक होंगे।"

गंगाधर महाराज--"मैं स्वयं ही शिकायत करके स्वयं ही निर्णायक होऊँगा ?"

मैं--"आपके अतिरिक्त इनमें से किसी के भी ऊपर मेरा विश्वास नहीं है।"

गंगाधर महाराज-- "ठीक है, तो फिर ऐसा ही होगा।" इसके बाद वे बोले, "तुम्हारे यहाँ इतना बड़ा भण्डारा हुआ, मैं यहीं हूँ और तुमने मुझे बुलाया तक नहीं।"

तब मैंने उनको सब कुछ स्पष्ट रूप से बतला दिया कि भण्डारे- जैसी कोई बात नहीं हुई और अन्त में बोला, "इन संन्यासी ने मेरे विरुद्ध जो कुछ कहा है, उसकी जाँच किये बिना ही आपने मेरे प्रति क्षोभ प्रकट किया है। स्वामीजी* ने कहा है कि अगर किसी ने कोई गल्ती की है, तो उसी को बुलाकर कहना, दूसरो से कुछ भी न कहना। पर आपने ऐसा नहीं किया।"

ज्योंही मैंने स्वामीजी की बात कही, वे तुरत ही बोल पड़े, "तुमने ठीक ही कहा है। भूल मेरी है।" ऐसा कह उन संन्यासी, जिन्होंने शिकायत की थी, की ओर इंगित करते हुए बोले, "इसी ने सब गड़बड़ी की है।" सभी हँसने लगे।

इस घटना में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहली तो है स्वामीजी के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा और दूसरी है उनके भीतर महापुरुष के लक्षण--मुझ जैसे व्यक्ति के सामने अपनी गल्ती मान लेना। हम लोग तो ऐसा नहीं कर पाते।

---

* स्वामी विवेकानन्द

तब मैं बोला, "महाराज, मैं मुकदमा जीत गया हूँ, अतः आपसे क्षतिपूर्ति लूँगा।"

गंगाधर महाराज—"ठीक है, क्या चाहते हो, बोलो ?"

मैं—"आपको एक दिन अद्वैत आश्रम आना होगा। वहाँ दोपहर का भोजन कर विश्राम करना होगा। फिर शाम को चार बजे चाय पीकर सन्ध्या के पूर्व लौट आना होगा।"

गंगाधर महाराज—"ठीक है, ऐसा ही होगा।"

बाद में एक दिन वे आये। पर दोपहर में भोजन के बाद ही बोले, "अब जाऊँगा।" गरमी के दिन थे। उन दिनों आजकल के समान टैक्सियाँ नहीं थीं। वेलिंगटन लेन से श्यामबाजार तक उन्हें घोड़ागाड़ी में जाना था। धूप में उन्हें जाने में कष्ट होगा, ऐसा सोचकर मैं बोला, "यह तय हुआ था कि आप अपराह्न में चाय पीकर, सन्ध्या के समय लौटेंगे। अतः अभी आपका जाना न होगा।" गंगाधर महाराज बोले, "नहीं, नहीं, अभी जाऊँगा।" तब उन्हें अटकाने के उद्देश्य से मैंने कहा, "यदि आप ठहर जायँ, तो आपको एक नयी चीज पिलाऊँगा, ऐसी चीज जो आपने जीवन में कभी भी न पी हो।"

गंगाधर महाराज—"क्या नयी चीज पिलाओगे तुम मुझे ? अरे, मैं कितने ही राजाओं और धनिकों के साथ रहा हूं, कितने देश घूम चुका हूँ, कितनी ही तरह की चीजें खायी-पी हैं। तू कौन सी नयी चीज मुझे

पिलाएगा ?"

मैं---"आप जो भी कहें, पर मैं एक ऐसी चीज आपको दूँगा, जो आपने पहले कभी भी न पी हो।"

गंगाधर महाराज---"अच्छी बात है, देखूँ, तुम क्या पिलाते हो मुझे। तो फिर ठहर ही जाता हूँ।"

मैं आश्वस्त हुआ---जैसे भी हो, इस भयंकर गरमी में उनका जाना तो स्थगित हुआ।

चार बजते ही उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, "क्यों, कौनसी नयी चीज पिलाने को कहा था, ले आओ।"

दोपहर में उनके सोने के बाद ही मैंने काफी बनाकर उसे ठण्डा करने के लिए बरफ में रख दिया था। उन दिनों कलकत्ते में न कॉफी हाउस थे, न रेफ्रिजरेटर। मैंने वही ठण्डी काफी गिलास में भरकर उन्हें दी। पीकर वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले, "सचमुच ऐसी चीज पहले कभी भी नहीं पी है।"

एक और घटना है। सारगाछी से कलकत्ते आकर गंगाधर महाराज एक भक्त के घर पर ठहरे हुए थे। उन लोगों ने एक कमरे को खूब यत्न से अच्छी अच्छी चीजों से सजाकर उनके रहने की व्यवस्था की थी। हम लोग उनसे मिलने वहाँ गये। वे बच्चों की तरह बोले, "देखो, इन लोगों ने यहाँ मुझे कितने यत्न के के साथ रखा है। तुम लोग क्या मठ में मुझे इस प्रकार रख सकोगे ?"

मैं बोला, "इस मकान के साथ मठ की क्या तुलना ?

यह एक धनी आदमी का मकान है और मठ है फकीरों की जगह। वहाँ पर भला हम लोग आपको इस प्रकार रख पाएँगे? फिर भी एक बात है--मठ है स्वामीजी का घर, स्वामीजी खुद वहाँ रहा करते थे।"

यह कहते ही वे बोल पड़े, "ठीक कहते हो तुम। कल सुबह ही मठ को जाऊँगा।" और उन भक्त को बुलाकर कहा, "कल सबेरे मठ में जाने की व्यवस्था करो।"

हम सब अवाक् रह गये। वे भक्त बारम्बार उनसे और भी दो-एक दिन रह जाने का अनुरोध करने लगे, हम लोगों ने भी उनका समर्थन किया, पर उन्होंने एक न सुनी। दूसरे दिन सबेरे ही वे मठ में चले आये।

बँगला और संस्कृत भाषाओं के प्रति उनका बहुत ही प्रेम था। बँगला बोलते समय बीच बीच में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग उन्हें पसन्द न था। अद्वैत आश्रम का प्रकाशन-विभाग उन दिनों कालेज स्ट्रीट मार्केट की दूसरी मंजिल के एक कमरे में अवस्थित था। एक दिन वे वहाँ आकर बोले, "चलो, खादी-भण्डार देखने जाएँगे।" खादी-भण्डार उन दिनों अल्बर्ट-हाल में नीचे की मंजिल के एक कमरे में था। मैं उनके साथ गया। घूम-घामकर उन्होंने सब कुछ देखा। सर पी० सी० राय भी उस समय वहीं उपस्थित थे। वे उन दिनों काँग्रेस की ओर से खादी का प्रचार कर रहे थे। खादी-प्रतिष्ठान के कर्मचारियों के साथ बातचीत करते समय वे बीच

बीच में अंग्रजी शब्दों का प्रयोग कर रहे थ। गंगाधर महाराज खादी-भण्डार की चीजें देखते हुए डा० राय की बातें भी सुन रहे थे। कुछ देर तक सुनने के बाद वे डा० राय से अत्यन्त विनयपूर्वक बोले, "राय साहब, आप अपनी भाषा को भी थोड़ी खद्दर की बना डालिए।" डा० राय यह सुनकर नाराज नहीं हुए वरन् खूब विनय-पूर्वक बोले, "स्वामीजी, आपने ठीक ही कहा है, पर क्या करूँ, लड़कों को अंग्रेजी पढ़ाते पढ़ाते बीच बीच में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करने की आदत हो गयी है।"

गंगाधर महाराज हम लोगों के साथ बच्चों की तरह मिला-जुला करते थे, इसीलिए हम लोग उनके साथ खेल के साथियों के समान व्यवहार कर पाते थे। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल में पड़ता है, तो मछलियाँ उस प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के साथ खेलती हैं और सोचती हैं कि चन्द्रमा भी उन्हीं में से एक है। वे नहीं जानतीं कि चन्द्रमा का वास्तविक स्थान कहाँ है!

ര

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन (३)

स्वामी वागीश्वरानन्द
(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

(९)

(देखिए 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', दि० ४ जून १८८३)

रचयिता—कमलाकान्त

(राग—सिन्धु-खमाज : ताल—जत)

आपनाते आपनि थेको मन, जेओनाको करो घरे।
जा चाबि ता बसे पाबि, खोंजो निज अन्तःपुरे॥
परम धन एइ परशमणि, जा चाबि ता दिते पारे।
कतो मणि पड़े आछे चिन्तामणिर नाचदुआरे॥
तीथगमन दुःख-भ्रमण, मन उचाटन करो ना रे।
(तुमि) आनन्दत्रिवेणीर स्नाने शीतल हओ ना मूलाधारे॥
कि देखो कमलाकान्त मिछे बाजी ए संसारे।
(तुमि) बाजीकरे चिनलेना, से जे तोमार घटे विराज करे॥

(भावानुवाद)

(राग—सिन्धु-खमाजः ताल—दीपचन्दी)

मगन मन रह आप ही में, जा न तू घर श्रौर के रे।
चाहता जो, सो मिलेगा, खोज अपने हृदय में रे॥
परम चिन्तामणि वही है, चाह सब पूरी करे रे।
रत्नमणि कितने पड़े हैं देख उसके द्वार पे रे॥
भ्रमण तीरथ व्यर्थ का श्रम, चित्त-विभ्रम क्यों करे रे।
कर त्रिवेणी स्नान, शीतल हो न मूलाधार में रे॥
देखके संसार का ये झूठ जादू क्यों फँसे रे।
चीन्ह जादूगर उसे जो सभी घर में हैं बसे रे।

(१०)

(देखिए 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', दि० २८ अक्तूबर १८८२)

रचयिता—अज्ञात

(राग-परज-बहार : ताल-झपताल)

गया गंगा प्रभासादि काशी काँची केबा चाय ।
काली काली काली बोले अजपा जदि फुराय ।।
त्रिसन्ध्या जे बोले काली, पूजा-सन्ध्या से कि चाय ।
सन्ध्या तार सन्धाने फेरे, तबु सन्धि नाहि पाय ।।
जप जज्ञ पूजा होम आर किछु ना मने लय ।
मदनेर जाग जज्ञ ब्रह्ममयीर राँगा पाय ।।
कालीनामेर एतो गुण केबा जानते पारे ताय ।
देवादिदेव महादेव जाँर पंचमुखे गुण गाय ।।

(भावानुवाद)

(राग-परज : ताल-तीनताल)

गयाधाम-काशी-प्रभास के तीर्थाटन को मन क्यों धाय ।
'काली काली काली' कहके प्राण प्रयाण अगर हो जाय ।।
जपे त्रिसन्ध्या जो जन 'काली', सन्ध्या-वन्दन उसे न भाय ।
सन्ध्या उसे बाँधने घूमे, किन्तु सन्धि वह कभी न पाय ।।
याग-यज्ञ-तप-हवन-अर्चना मन को फिर कुछ भी न सुहाय ।
ब्रह्ममयी के चरणकमल में सकल साधना-सिद्धि समाय ।।
कालीनाम अपार अगम है, महिमा कोई जान न पाय ।
देवदेव शिव पंचमखों से अविरत उसका ही गुण गाय ।।

(११)

(देखिए 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', दि० ८ अप्रैल १८८३)

रचयिता—दाशरथि राय

(राग–भीमपलासी : ताल–एकताल)

दोष कारो नय गो मा,
आमि स्वखात सलिले डुबे मरि श्यामा ॥
षड्रिपु होलो कोदण्डस्वरूप, पुण्यक्षेत्र माझे काटिलाम कूप।
से कूपे व्रेड़िलो कालरूप जल, काल-मनोरमा ॥
आमार कि हबे तारिणी, त्रिगुणधारिणी,
विगुण करेछे सगुणे ।
किसे ए वारि निवारि, भेबे दाशरथिर
अनिवार वारि नयने ॥
छिलो वारि कक्षे, क्रमे एलो वक्षे,
जीवने जीवन केमने हय मा रक्षे ।
आछि तोर अपेक्षे, दे मा मुक्ति भिक्षे,
कटाक्षेते करे पार ॥

(भावानुवाद)

(राग—भीमपलासी : ताल—तीनताल)

न इसमें दोष किसी का माँ ।
खुद कूप खोद में डूबा श्यामा ॥
षड्रिपु बने कुदाल-स्वरूप, पुण्य क्षेत्र में खोदा कूप ।
बढ़ आया अब जल काल-रूप, महाकाल-वामा ॥
क्या होगा अब त्रिगुणधारिणी,
सगुण हो रहा विगुण तारिणी ।
कैसे रोकूँ यह जल, भय से सदा रो रहा माँ ॥

कमर डुबा जल वक्ष डुबाये, जीवन-रक्षण क्यों हो पाये।
ले उबार करुणा-कटाक्ष से, मुक्ति भीख दे माँ ।।

(१२)

(देखिए 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', दि० ८ अप्रैल १८८३)

रचयिता—दाशरथि राय

(राग—भीमपलासी : ताल—एकताल)

जीव साजो समरे।
रणवेशे काल प्रवेशे तोर घरे ।।
भक्तिरथे चढ़ि, लये ज्ञान-तूण, रसना-धनुके दिये प्रेम-गुण।
ब्रह्ममयीर नाम ब्रह्म-अस्त्र ताहे सन्धान करे ।।
आर एक जुक्ति रणे, चाइ ना रथ-रथी,
शत्रु नाशे जीव हबे सुसंगति।
रणभूमि जदि करे दाशरथि,
भागीरथीर तीरे ।।

(भावानुवाद)

(राग–भीमपलासी : ताल–कहरवा)

जीव सज्ज हो, देख सामने, घिर आया घोर समर रे।
धर युद्धवेश, करता प्रवेश, काल गेह के अन्दर रे ।।
भक्ति-यान चढ़, ज्ञान-तूण धर, चढ़ा प्रेम-गुण रसना-धनु पर
ब्रह्ममयी-नाम ब्रह्मास्त्र का अब सन्धान शीघ्र कर रे ।।
अन्य एक है युक्ति सहज अति,
शत्रु नष्ट हों बिना रथ-रथी।
अगर बनाए तू समरांगण, सुसंग-गंगातट पर रे ।।

०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) विद्याधनं सर्वधनं प्रधानम्

एक बार सिकन्दर के पास एक सैनिक अधिकारी आया और उसने एक सुन्दर स्वर्णजटित पेटी पेश की। पूछने पर उसने बताया कि उसे वह पेटी ईरान में लूट में मिली थी। बादशाह उस पेटी की नक्काशी देख बेहद प्रभावित हुआ और उसने अपने दरबारियों से पूछा कि पेटी में कौनसी कीमती और खूबसूरत चीज रखी जाय। एक दरबारी ने कीमती हीरे और जवाहिरात रखने का सुझाव दिया, तो दूसरे ने कीमती वस्त्र रखने को कहा। किसी ने खजाने की चाबियों का गुच्छा रखने की, तो किसी ने गोपनीय पत्रों को रखने की सलाह दी। किन्तु बादशाह को एक भी सुझाव पसन्द नहीं आया।

तब वह स्वयं मन ही मन सोचने लगा कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसने उसके जीवन को प्रेरणा दी है। उसका अन्तर्मन बोला, "सिकन्दर ! तुझे जो गौरव और ख्याति मिली है, वह न तो रुपयों-पैसों से मिली है और न सारे मुल्कों को जीतते रहने के कारण। बल्कि तूने तो हजारों-लाखों लोगों को बिना कारण मौत के घाट उतारा है। युद्ध और रक्तपात से कोई गौरव नहीं मिला।" उसकी अन्तरात्मा आगे सोचने लगी कि फिर एसी कौनसी वस्तु है, जिसने उसके जीवन को नयी दिशा दी है ? अकस्मात् उसे ख्याल आया कि पौरुष, पराक्रम और

साहस का मार्ग उसे एक ग्रन्थ से मिला था। उस ग्रन्थ के कारण ही उसे अपने में छिपी शक्तियों का ज्ञान हुआ था और इसी कारण आज वह विश्वविजयी बन सका है।

सारे दरबारी बड़ी उत्कण्ठा से सिकन्दर के चेहरे पर उठते भावों को देख रहे थे। उन्हें जिज्ञासा हो रही थी कि आखिर सम्राट् पेटी में किस वस्तु को रखना पसन्द करते हैं। अकस्मात् सिकन्दर ने आदेश दिया, "इस पेटी में महाकवि होमर लिखित महाकाव्य 'इलियड' रखो। यह मेरे लिए सबसे कीमती और बेहतरीम चीज है। इस पुस्तक ने मेरे जीवन को नया मोड़ दिया था और इसी के कारण मुझमें शौर्यभाव जागृत हुआ था।"

(२) दादू दिल न दुखाइए

बाबर बादशाह को कुरान का तरजुमा (रूपान्तर) करने का बड़ा शौक था। तब वह राय लेने के लिए मौलवियों को उसे दिखाया करता। सभी मौलवी इस डर से कि बादशाह नाराज न हो, उसका तरजुमा पसन्द करते। एक बार एक मौलवी ने तरजुमे में कोई गलती बतायी। बादशाह ने जब उसे गौर से पढ़ा और समझने की कोशिश की तो उसने पाया कि तरजुमा सही था। मगर मौलवी द्वारा गलती बताये जाने के कारण उसने उसी समय गलती ठीक कर ली।

मौलवी के जाने के बाद बादशाह ने अपने मुताबिक उसे फिर सुधार डाला। एक मंत्री ने जब यह देखा तो बादशाह से पूछा, "जहाँपनाह! आपने इस मूरख की

गलती का उसी समय खण्डन क्यों नहीं किया ! उसे ठीक मानकर क्यों सुधार लिया ?" बादशाह ने जवाब दिया," मौलवी की राय नेकनीयती की थी। उसे जो सही लगा, उसने बेहिचक बता दिया, इसलिए मैंने उसका जी दुखाना ठीक न समझा। दूसरे का दिल दुखाने से मायूसी और उदासी आ जाती है।"

(३) जे रहीम उत्तम प्रकृति

एक बार जहाँगीर बादशाह को राजमहल से थोडी दूरी पर एक झोपड़ी दिखायी दी। उसने हुक्म दिया कि बुढ़िया को दूसरी जगह झोपड़ी बनाने के लिए कहा जाए सिपाहियों ने बुढ़िया को बादशाह का हुक्म सुनाया, मगर उसने उस ओर ध्यान नहीं दिया। तब एक दिन सिपाही बुढ़िया को राजा के पास ले गये। जहाँगीर ने पूछा, "बुढ़िया ! तू झोपड़ी क्यों नहीं हटाती ?" बुढ़िया ने जवाब दिया, "हुजूर, इससे आपकी न्यायप्रियता पर दाग लगेगा।" "क्या मतलब ?"--बादशाह ने पूछा। बुढ़िया बोली, "जहाँपनाह ! आपके समान श्रेष्ठ और न्यायप्रिय राजा इस दुनिया में और कोई नहीं है। आपकी कीर्ति दिग्-दिगन्त तक फैली हुई है। फिर आप 'यह मेरा' 'यह तेरा' ये विचार अपने मन में क्यों ला रहे हैं ? मैं तो आपके महल और बाग-बगीचों को रोज देखा करती हूँ, मगर मेरी यह छोटी सी टूटी-फूटी झोपड़ी भी आपकी आँखों को खटक रही है ! आप यदि इस असहाय और निरपराधिन की झोपड़ी को उजाड़ेंगे, तो लोग आपकी

बुराई और निन्दा करेंगे और इससे आपकी न्यायप्रियता पर आँच आएगी।" यह सुन बादशाह लज्जित हुआ। उस बुढ़िया से माफी माँगी और अपने आदेश वापस ले लिये।

(४) जहाँ दया तहँ धर्म है

मुहम्मद गजनी का पिता सुबुक्तगीं पहले अलप्तगीं बादशाह का गुलाम था। वह हमेशा अपने टट्टू पर सवार हो शिकार के लिए निकलता था। एक बार रास्ते में उसे एक हिरनी के साथ उसका बच्चा दिखायी दिया। उसने बच्चे को पकड़कर उसकी टाँगें रस्सी से बाँधी और उसे टट्टू पर रखकर वह घर की ओर लौटने लगा। अकस्मात् उसे ऐसा महसूस हुआ कि पीछे से कोई दौड़े आ रहा है। उसने जब मुड़कर देखा, तो उसे हिरनी आती दिखायी दी, जिसकी आँखों में आँसू जमा हो गये थे। वह करुण नेत्रों से अपने बच्चे की ओर देखती हुई चली आ रही थी। यह दृश्य देख सुबुक्तगीं के हृदय में भी करुणा जागृत हो उठी। उसने तुरन्त बच्चे को रस्सी से मुक्त कर दिया। बच्चे को मुक्त देख हिरनी फौरन उसके पास गयी, मगर उसकी आँखें अब भी सुबुक्तगीं पर गड़ी हुई थीं कि कहीं वह बच्चे को फिर से न छीन ले। सुबुक्तगीं ने उसकी आँखों का भाव पहचान लिया और वह वहाँ से चुपचाप चलता बना।

रात को सुबुक्तगीं को स्वप्न में पैगम्बर साहिब के दर्शन हुए। उन्होंने उससे कहा, "तूने दया करके एक असहाय और मूक प्राणी को मुक्त किया है। इसे खुदा

ने बहुत पसन्द किया है और उसने तेरा नाम बादशाहों की फेहरिस्त में लिखवा दिया है। वह तुझसे यही उम्मीद करता है कि आगे भी तू यही बरताव अपनी रैयत के साथ भी करेगा।"

(५) वह शिक्षा किस काम की

एक बार खलीफा हारून-अल-रशीद बगदाद शहर का मुआयना करने निकले। रास्ते में उन्हें एक आलीशान इमारत दिखायी दी, जिस पर 'मदरसा अब्बासिया' यह तख्ती लगी हुई थी। बादशाह ने मंत्री से पूछा, "हमारे शाहज़ादे अमीन और मामून इसी मदरसे में तालिम पाते हैं न ?" मंत्री ने 'हाँ' जवाब दिया।

खलीफा घोड़े से उतरा और उसने मदरसे में प्रवेश किया। तब उसे सफेद दाढ़ीवाले एक बुजुर्ग हाथ-मुँह धोते दिखायी दिये। वह उस मदरसे का उस्ताद था। हाथ-मुँह धोने के बाद उसने बादशाह को सलाम किया। सलामी का जवाब देकर खलीफा बोला, "हम आपके मदरसे का मुआयना करने आये थे, लेकिन हमें यह देखकर बड़ा अफसोस हुआ कि यहाँ पूरी तालीम नहीं दी जाती।" "गुस्ताखी माफ हो," उस्ताद डरते डरते बोला, "हुजूर, मुझसे क्या गलती हो गयी ?"

खलीफा ने कहा, "आप जब हाथ-मुँह धो रहे थे, तब हमारे शाहजादे चुपचाप खड़े थे। दरअसल उस्ताद की जगह बड़ी ऊँची होती है और उसकी खिदमत करना हर शागिर्द का फर्ज है, मगर हमने पाया कि हमारे शाह-

जादे चुपचाप खड़े थे। उनको चाहिए था कि वे आपको पानी लाकर देते और आपके पैरों पर पानी डालते। मालूम होता है, आपने उन्हें यह तालीम नहीं दी।"

यह सुन उस्ताद हक्का-बक्का रह गया और शाहजादे अमीन और मामून तो शर्म के मारे गड़ गये।

काम : सबसे बड़ा शत्रु

(गीताध्याय ३, श्लोक ३६–४०)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

अर्जुन उवाच –

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३६।।

अर्जुनः (अर्जुन) उवाच (बोला)––वार्ष्णेय (हे वृष्णिवंशोत्पन्न कृष्ण) अथ (अब) केन (किसके द्वारा) प्रयुक्तः (परिचालित होकर) अयं (यह) पूरुषः(पुरुष) अनिच्छन् (न चाहते हुए) अपि (भी) बलात् (बलपूर्वक) नियोजितः (लगाया गया) इव (सा पापं (पाप) चरति (करता है) ।

''अर्जुन बोला––हे कृष्ण! अब किसके द्वारा परिचालित होकर यह मनुष्य न चाहते हुए भी बलपूर्वक लगाया गया-सा पाप करता है ?''

पूर्व श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से हम सबको बताया कि मनुष्य को अपने स्वधर्म में स्थित रहना चाहिए। प्रकृति ने जिस कर्म को हमारी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार हमें प्रदान किया है, वह हमारे लिए सहज कर्म है। उसी को स्वधर्म कहा गया है। हो सकता है एक ब्राह्मणकुलोत्पन्न बालक को जन्म से ही व्यापार-वाणिज्य और गो-पालन में रुचि हो, उसका मन अध्ययन और चिन्तन-मनन में न लगता हो, उसके लिए वैश्यकर्म को स्वधर्म कहा जायगा। इसी प्रकार एक

निम्नकुलोत्पन्न बालक है। बचपन से ही उसमें अध्ययन और चिन्तन-मनन की ओर रुचि है, उसे भजन-पूजन अच्छा लगता है। तब तो उसके लिए ब्राह्मणकर्म ही स्वधर्म माना जायगा। यह स्वधर्म हमें अपने पूर्व संस्कारों के बल पर प्राप्त होता है। जब हम स्वधर्म को छोड़कर परधर्म स्वीकार करते हैं, तो उसके पीछे कोई वासना या मानसिक उद्वेग अवश्य निहित होता है। सामान्यतः स्वधर्म-त्याग और परधर्म-ग्रहण के पीछे भय या लोभ की वृत्ति ही कार्य करती है। अर्जुन के स्वधर्म-त्याग की इच्छा के पीछे भय की वृत्ति कार्य कर रही थी। यदि वह भगवान् की बात न सुन अपने स्वधर्म का त्याग कर देता, तो वह उसके महानाश का कारण बनता। इसीलिए भगवान् कृष्ण स्वधर्म में स्थित रहने के लिए इतना जोर दे रहे हैं।

अर्जुन को यह बात समझ में आ तो रही है, पर वह देखता है कि कोई उसकी समझ को बलपूर्वक आवरण में ढाँक दे रहा है। वह यह तो समझ रहा है कि पाप क्या है और यह भी कि उसे पाप से दूर रहना चाहिए। पर वह अनुभव करता है कि कोई उसे जबरदस्ती पाप में लगाने की चेष्टा करता है। हम भी जानते हैं कि पाप क्या है और पुण्य क्या। यह भी जानते हैं कि पाप हमें सर्वनाश की ओर ले जायगा, फिर भी मानो कोई हमें जबरदस्ती पकड़ लेता है और हमसे पाप कराता है। इच्छा न रहते हुए भी हम मानो पापकर्म की ओर ठेल

दिये जाते हैं। तभी तो अर्जुन भगवान् कृष्ण से पूछता है कि पाप में ठेलनेवाला यह कौन है? उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं --

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् (श्री भगवान्) उवाच (बोले) --रजोगुणसमुद्भवः (रजोगुण से उत्पन्न) महाशनः (महापेटू। महापाप्मा (महापाप रूप एषः (यह) कामः (तृष्णा) एषः (यह) क्रोधः (क्रोध) इह (इस संसार में) एनं (इसे) वैरिणं (वैरी) विद्धि (जानो)।

"श्री भगवान् बोले -- यह काम है, यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न हुआ है। यह महापेटू और बड़ा पापी है। इस संसार में इसे अपना शत्रु जान।"

हमारे न चाहते हुए भी हमें पाप में ठेलनेवाला 'काम' है। काम का अर्थ है तृष्णा। काम और क्रोध तृष्णा के दो रूप हैं। जब हमारी तृष्णा-पूर्ति में कोई अड़ंगा आता है, तो हममें क्रोध उत्पन्न होता है। यह तृष्णा रजोगुण से पैदा होती है, इसलिए यह मनुष्य को सदा नचाती रहती है। संस्कृत में 'आशा' पर एक श्लोक है। वह तृष्णा पर भी पूरा का पूरा घटता है। 'आशा' शब्द के बदले 'तृष्णा' शब्द को रखने पर वह श्लोक यों होगा --

तृष्णा नाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्यशृंखला।
यया बद्धा प्रधावन्ति मुक्ताः तिष्ठन्ति पंगुवत् ॥

— मनुष्यों की 'तृष्णा' नाम की एक विचित्र जंजीर है।

सामान्यतः जो जंजीर से बँधा होता है, वह हिल-डुल नहीं सकता और जो जंजीर से मुक्त होता है, वह इधर उधर भागता फिरता है; पर इस तृष्णा-जंजीर की की विचित्रता यह है कि जो उससे बँधा होता है, वह तो इधर उधर भागता है, लेकिन जो उससे मुक्त है, वह पंगु के समान निश्चल हो जाता है।

फिर कहा कि यह काम महापेटू है, खाता बहुत है। तृष्णा मिटती कहाँ है? उसको जितना खिलाया जाय, वह उतनी ही बढ़ती जाती है। 'महाभारत' के आदिपर्व में राजा ययाति की कथा आती है, जो काम का ऐसा मारा हुआ है कि बूढ़ा हो गया, पर तृष्णा नहीं मिटी। तब वह अपने छोटे पुत्र पुरु का यौवन ले लेता है और बदले में उसे अपना बुढ़ापा दे देता है। पर भोग की तृष्णा ऐसी है कि बढ़ती ही जाती है। तब ययाति की आँखें खुलती हैं और वह कह उठता है (८५।१२-१४)—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत्॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

—'कामनाओं का शमन कामनाओं को भोगने से नहीं होता। बल्कि जैसे आग में घी डालने से वह और भी प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार वासनाएँ

भी भोग से बढ़ जाती हैं। पृथ्वी में जितना भी अन्न है, सोना-माणिक्य है, पशुधन है, स्त्रियाँ हैं, ये सब मिलकर एक व्यक्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः तृष्णा का त्याग करना चाहिए। यह तृष्णा एक प्राणान्तक रोग है। मनुष्य भले जीर्ण हो जाय, पर वह जीर्ण नहीं होती। दुर्मतियों के लिए इसका त्याग बड़ा कठिन है। किन्तु सुखी तो वही है, जो इस तृष्णा का त्याग करता है।'

यह काम महापापरूप है, महापापी है। तृष्णा ही पापों की जड़ है। मनुष्य जो भी पाप करता है, उसके मूल में यह तृष्णा, यह हवस होती है। जिसमें तृष्णा नहीं होती, वह कोई पाप करता देखा नहीं जाता। जो तृष्णा के वश में होता है, उसके लिए कोई भी पाप बहुत बड़ा नहीं होता। तभी तो भगवान् ने इसे 'वैरी' निरूपित किया। इस संसार में हमारा यही शत्रु है।

शत्रु वह है, जो हमें हानि पहुँचाए, हमारा नाश करे। तृष्णा से बढ़कर मनुष्य को भला कौन हानि पहुँचाता है? मनुष्य के मन के सारे तनाव इस तृष्णा के कारण ही तो पैदा होते हैं। यह उसकी बुद्धि को असन्तुलित कर देती है।

विवेच्य श्लोक में 'काम' और 'क्रोध' को मनुष्य को पाप में बरबस लगानेवाला शत्रु बताया गया। व्याख्याकार 'काम' और 'क्रोध' को उपलक्षण मानते हैं और कहते हैं कि यहाँ पर षड्रिपु-- काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर--विवक्षित हैं। छहों

रिपुओं का मुखिया है काम, इसीलिए श्री भगवान् ने 'काम' शब्द का प्रयोग सर्वत्र किया है।

अर्जुन ने पूछा था कि न चाहते हुए भी पाप में वलपूर्वक कौन ठेलता है ? भगवान् ने उत्तर दिया---यह (एषः) काम है, यह (एषः) क्रोध है। 'एषः' कहकर भगवान् यह बताना चाहते हैं कि काम-क्रोध हमारे अत्यन्त निकट हैं, हमारे भीतर ही विद्यमान हैं। ये प्रत्यक्ष हैं। इनकी विद्यमानता के लिए अनुमान नहीं करना पड़ता।

शंका उठती है कि काम आदि की शक्ति क्या भगवान् की शक्ति से भी अधिक प्रबल है, जो मनुष्य को बलपूर्वक पाप में लगाती है ? मनुष्य में तो विवेक की भी शक्ति है। तब उसका आत्मचैतन्य काम की शक्ति के सामने इतना दुर्बल क्यों पड़ जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर अगले दो श्लोकों में दिया जाता है।

धूमेना व्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

यथा (जिस प्रकार) वह्नि (अग्नि) धूमेन (धुएँ से) आव्रियते (ढकी रहती है) यथा (जिस प्रकार) गर्भः (गर्भ) उल्बेन (झिल्ली से) आवृतः (ढका रहता है) तथा (उसी प्रकार) तेन (उस [काम] के द्वारा) इदम् (यह [विवेक-ज्ञान]) आवृतम् (ढका रहता है)।

कौन्तेय (हे कौन्तेय) ज्ञानिनः (ज्ञानी व्यक्ति की) नित्यवैरिणा (चिरशत्रु) एतेन (इस) कामरूपेण (कामरूप) च

(तथा) दुष्पूरेण (कभी न तृप्त होनेवाली) अनलेन (अग्नि के द्वारा) ज्ञानम् (ज्ञान) आवृतम् (ढका रहता है)।

"जिस प्रकार आग धुएँ से ढकी रहती है, जिस प्रकार दर्पण धूल-मैल के द्वारा ढका रहता है, जिस प्रकार गर्भ जेर से ढका रहता है, उसी प्रकार उस काम के द्वारा यह विवेकरूप ज्ञान ढका रहता है।"

"हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! ज्ञानी की चिरशत्रु इस कामरूप और कभी न तृप्त होनेवाली अग्नि के द्वारा ज्ञान ढका रहता है।"

भगवान् कृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि मनुष्य में विवेक है तो, पर यह काम उसके विवेक को उसी प्रकार ढक लेता है, जिस प्रकार धुआँ अग्नि को, या मैल दर्पण को, या जेर गर्भ को। इसीलिए काम का आक्रमण होने पर मनुष्य में विवेक का, ज्ञान का प्रकाश मन्द हो जाता है। काम की तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन तीनों अवस्थाओं के दिग्दर्शन के लिए यहाँ पर तीन उपमाएँ दी गयी हैं। काम की पहली अवस्था है सूक्ष्म, दूसरी—स्थूल और तीसरी—अतिस्थूल। हम किसी अप्राप्त वस्तु को देखते या उसके बारे में सुनते हैं और उससे हमारे भीतर इच्छा पैदा होती है। यह काम की सूक्ष्म अवस्था है। एक वार किसी वस्तु का उपभोग कर लेने पर उसके भोग की जो पुनः इच्छा होती है, वह काम की स्थूल अवस्था है; और वस्तु का बार बार उपभोग करने पर भी जो निरन्तर इच्छा बनी रहती है, वह काम की अतिस्थूल अवस्था है।

काम की ये तीनों अवस्थाएँ अन्तःकरण के विवेक को उत्तरोत्तर ढक लेती हैं। जैसे धुआँ जब आग को ढकता है, तब आग के प्रकाश को तो ढक लेता है, पर उसके ताप को नहीं ढक पाता, उसी प्रकार काम की पहली अवस्था अन्तःकरण को ढकती तो है, पर उसकी विचारशक्ति को कुन्द नहीं कर पाती। उसकी दूसरी अवस्था अन्तःकरण को ढाँककर विचारशक्ति को भी कुन्द कर देती है, जैसे धूल दर्पण को ढक लेती है और उसकी प्रतिबिम्बित करने की शक्ति को कुन्द कर देती है। काम की अतिस्थूल अवस्था वह है, जिसमें अन्तः-करण मानो दिखायी ही नहीं देता। वह मोह के अन्ध-कार से वैसे ही ढक जाता है, जैसे जरायु गर्भ को ढक लेती है। इस तीसरी अवस्था में अन्तःकरण का प्रकाशात्मक भाव पूरी तरह आवृत हो जाता है। यदि हमने अपने अन्तःकरण में काम को तनिक भी कहीं पैठने दिया, तो वह धीरे धीरे समूचे अन्तःकरण को आच्छन्न कर लेता है।

इसीलिए ३९ वें श्लोक में भगवान् कृष्ण ने काम को ज्ञानी का 'नित्य वैरी' कहा है, उसको कभी न तृप्त होनेवाली अग्नि बताया है। यदि हम सोचें कि काम का बस थोड़ा सा ही चिन्तन करके छोड़ देंगे, तो यह भूल है। उसका थोड़ा सा चिन्तन हमें उसके अधिक चिन्तन की ओर ले जायगा और हम काम की पहली अवस्था से तीसरी अवस्था में उतर आकर अपना सर्वनाश कर लेंगे।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी—'अरब और ऊँट'

की। एक अरब अपनी झोंपड़ी में सो रहा था। गर्मी के दिन थे। मरुस्थल की गरम रेतीली हवा से व्याकुल हो एक ऊँट उस अरब की झोंपड़ी में आया और अरब से अनुनय-विनय करने लगा कि "मेहरबान, बाहर धूप और गरम रेती की मार से मेरा बड़ा बुरा हाल है, यदि आप थोड़ी जगह मुझे दे देते तो इस रेतीले तूफ़ान से मैं बच जाता।" अरब ने कहा, "अरे, तुम तो देख ही रहे हो, जगह बड़ी तंग है। फिर तुम्हारा इतना बड़ा डील-डौल, कहाँ से जगह दूँगा?" ऊँट गिड़गिड़ाकर बोला, "यदि आप बस मेरे सिर भर को अन्दर घुसा लेने की इजाजत दें तो बड़ा शुक्रगुजार हूँगा। सिर पर बालू की मार सही नहीं जाती।" अरब को दया आ गयी, उसने ऊँट को अपना सिर झोंपड़ी के अन्दर कर लेने की अनुमति दे दी। ऊँट ने सिर अन्दर डाल लिया। उसका सिर झुका हुआ था, क्योंकि झोंपड़ी नीची थी। उसका शेष बदन और चारों पैर सब बाहर थे। कुछ समय बाद ऊँट ने पुनः आर्त स्वर में अरब से कहा, "तब से इस प्रकार झुके रहने से मुझे बड़ी तकलीफ हो रही है। अगर आप इजाजत दें तो सामने के ये दोनों पैर भी अन्दर घुसा लूँ?" अरब बोला, "देखते नहीं हो, कहाँ जगह है?" "मेहरबान!" ऊँट गिड़गिड़ाया, "अगर आप थोड़ा बाजू में सरक जाते तो मेरे सामने के दोनों पैरों के लिए जगह निकल जाती और मैं आपका बड़ा अहसानमन्द होता। आप देख ही रहे हैं कि तूफान बढ़ता ही जा रहा है।" अरब थोड़ा

बाजू में सरक गया और अनमने स्वर से बोला, "लो, इतने में काम चला लो।" ऊँट ने अपने सामने के दोनों पैर भी भीतर कर लिये। थोड़ी देर बाद वह अरब से पुनः बोला, "देखो, मेरे बदन पर रेत की कैसी बौछार आ रही है। अब मुझसे सहा नहीं जाता। तुम और बाजू में सरको, मुझे भीतर आने दो।" पर इस बार ऊँट के स्वर में याचना का भाव नहीं था, वह मानो अधिकार के स्वर में बोल रहा था। अरब बिगड़ गया और डाँटते हुए बोला, "तुम बड़े पाजी हो। पहले तो सिर भीतर करने के लिए गिड़गिड़ा रहे थे और अब पूरा शरीर ही भीतर लाना चाहते हो!" ऊँट अन्दर घुसते हुए बोला, "अब मैं तो घुसूँगा ही, तुम यहाँ से निकल जाओ, नहीं तो अभी तुम्हारी झोपड़ी को तोड़ डालूँगा!" और ऊँट ने अरब को वहाँ से निकाल दिया।

काम भी उस ऊँट के समान है। पहले वह अन्तःकरण में थोड़ी सी जगह चाहता है। वह यदि उसे दे दी जाय, तो और जगह चाहता है और अन्त में सबको निकाल बाहर कर अन्तःकरण पर अपना पूरा कब्जा जमा लेता है। इसीलिए भगवान् ने उसे 'दुष्पूर अनल' कहा--वह कभी न तृप्त होनेवाली आग है, जो मनुष्य के सुख और कल्याण को निरन्तर जलाती रहती है। राजा ययाति की बात जो हमने ऊपर में कही, इस सन्दर्भ में स्मरणीय है। ययाति तृष्णा को 'दुस्त्यजा' और 'प्राणान्तक रोग' कहता है। जैसे मेघ का एक छोटासा टुकड़ा सूर्य को ढाँक

लेता है और उसके प्रकाश को रोक देता है, उसी प्रकार कामरूप मेघ का टुकड़ा अन्तःकरण को प्रकाशित करनेवाले ज्ञान-सूर्य को ढक लेता है और भीतर मोह का अन्धकार फैला देता है।

अर्जुन ने पूछा था कि मनुष्य को न चाहते हुए भी कौन बलपूर्वक पाप की ओर ठेलता है? भगवान् ने बताया कि वह यह काम है। उन्होंने यह भी बताया कि काम क्या है और वह किस प्रकार ज्ञान को ढक लेता है। तब अर्जुन के मन में प्रश्न जगा कि क्या इस काम को नष्ट नहीं किया जा सकता? यदि किया जा सकता हो तो किस प्रकार उसे नष्ट किया जाय? इन प्रश्नों का उत्तर भगवान् आगे के श्लोकों में देते हैं।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) मनः (मन) बुद्धिः (बुद्धि) अस्य (इस [काम] के) अधिष्ठानम् (आश्रयस्थल) उच्यते (कहे जाते हैं) एषः (यह) एतैः (इनके द्वारा) ज्ञानम् (ज्ञान को) आवृत्य (ढककर) देहिनं (देही को) विमोहयति (मोहित किया करता है)।

"इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के रहने के स्थान कहे जाते हैं। इनके द्वारा यह काम देही के ज्ञान को ढक लेता है और उसे मोहित करता है।"

श्री भगवान् यह बतला रहे हैं कि काम कहाँ रहता है। यदि शत्रु को मारना हो तो पहले यह जानना चाहिए कि वह कहाँ पर रहता है। आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं -- 'ज्ञाते हि शत्रोः अधिष्ठाने सुखेन शत्रु-

निबर्हणं कर्तुं शक्यते'— अर्थात्, यदि शत्रु के रहने का स्थान जान लिया जाय, तो सहज में ही उसका नाश किया जा सकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह काम इन्द्रियों में, मन में और बुद्धि में रहता है। ये उसके आश्रयस्थल हैं, दुर्ग हैं। जैसे किले के अन्दर शत्रु अपने को सुरक्षित रखता है, उसी प्रकार काम इन किलों का आश्रय लेकर सुरक्षित बना रहता है। उसका नाश करने के लिए उसके इन आश्रयस्थलों का भेद करना होगा। काम की प्रबलता यह है कि वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि का सहारा लेकर देही के ज्ञान को ढक लेता है और उसे मोहित कर देता है।

'देही' देहाभिमानी जीव को कहते हैं। जिसे देह का अभिमान है, उसे काम सताएगा ही। देहाभिमान को छोड़ देने पर काम अपने आप मर जायगा। यदि किसी रूप में बना भी रहा तो मोह उत्पन्न नहीं कर सकेगा।

यहाँ पर भगवान् संकेत करते हैं कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि में काम की उत्तरोत्तर प्रबलता होती है। हमने ऊपर काम की तीन अवस्थाएँ बतलायीं — सूक्ष्म, स्थूल और अतिस्थूल। ऐसा कहा जा सकता है कि काम जब इन्द्रियों में रहता है, तब उसकी सूक्ष्मावस्था है; उसके मन में रहने पर स्थूलावस्था और बुद्धि में निवास बना लेने पर अतिस्थूलावस्था। इन्द्रियों में रहनेवाले काम को 'दम' के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, पर जो मन में भी घर बनाकर बैठ गया है, उसके लिए

'दम' के साथ 'शम' की भी आवश्यकता पड़ेगी। लेकिन यदि काम बुद्धि में रहे, तब केवल शम और दम से नहीं चलेगा, तब तो विवेक और वैराग्य के महा अस्त्रों का सहारा लेकर पहले बुद्धि से काम को बाहर खदेड़ना पड़ेगा और तब शम और दम की सहायता लेकर उसके नाश का उपाय करना पड़ेगा।

काम वैसे तो मन में रहता है, पर इन्द्रियों के माध्यम से जाग्रत् होता है। जैसे ही इन्द्रियों के सामने उनका अपना अपना विषय आया--आँखों के सामने रूप, कान के पास शब्द, नाक के समीप गन्ध, रसना के समीप रस और त्वचा के पास स्पर्श--कि मन में तृष्णा जाग जाती है। मन में तृष्णा का वास तो है, पर वह सोयी हुई रहती है। विषयों का इन्द्रियों से सम्पर्क इस सुप्त तृष्णा को जगा देता है और हमारा शरीर वासना की पूर्ति हेतु क्रिया करने के लिए उद्यत हो जाता है। काम एकदम से जाकर बुद्धि में नहीं पैठता, वह पहले इन्द्रियों में अपना डेरा डालता है, फिर मन को अपने पक्ष में करता है और अन्त में मन और इन्द्रियों की सहायता लेकर बुद्धि को अपने वश में लाता है। काम जब इन्द्रियों में आता है, तब उसका नाश सहज है, यदि वह मन में न पैठा हो। जैसे आँखों के सामने रूप तो आया, पर मन यदि साथ न दे, तो रूप सामने होकर भी हम उसे नहीं देख पाते। वैसे ही, मन के साथ न रहने पर हम शब्द भी नहीं सुन पाते। हम पढ़ने में तल्लीन हैं। घड़ी का अलार्म

बजा, पर हम सुन नहीं पाते, क्योंकि हमारा मन पढ़ने में लगा है। अतः भले ही इन्द्रियों के सामने उनके अपने विषय आएँ, पर यदि मन न लगा हो तो काम की, तृष्णा की उत्पत्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार इन्द्रियों में अधिष्ठित काम को हम 'दम' के द्वारा, इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने से रोककर, नष्ट कर सकते हैं।

पर यदि काम मन में घुस जाय, तब तो वह इन्द्रियों के साथ साथ उनके विषयों की ओर जायगा और इस प्रकार विषय-भोग की स्पृहा पैदा करेगा। मन का सहयोग पाकर काम प्रबल हो जाता है। मन से काम को भगाने के लिए 'शम' करना पड़ता है—बलपूर्वक चित्त को विषयों की ओर जाने से रोकना पड़ता है। इसके लिए हमें चित्त को अन्य उदात्त वस्तुओं में सतत लगाये रखने का अभ्यास करना पड़ता है। जैसे श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे—पूर्व की ओर आगे बढ़ो तो पश्चिम अपने आप छूट जायगा, इसी प्रकार ईश्वर का चिन्तन करने से विषयों का चिन्तन अपने आप छूट जायगा। मन को अध्ययन-स्वाध्याय, ईश्वरोपासना, शिवज्ञान से जीव-सेवा में लगाये रखने से उसका विषय-चिन्तन छूटेगा और तब इन्द्रिय-दमन करते हुए काम का नाश करना पड़ेगा।

लेकिन यदि काम बुद्धि में घुसकर अपना घर बना ले, तब उसे नष्ट करने के लिए बड़ा ही कठिन श्रम करना पड़ता है। काम का बुद्धि में घर बनाने का तात्पर्य

है विषय-भोग की बौद्धिक स्वीकृति। जब हम बुद्धि से काम को उचित मानने लगते हैं, तब उसके दूर करने का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। जब तक बुद्धि काम को एक दोष मानती है, शत्रु मानती है, तब तक उसको खदेड़ने की चेष्टा हो सकती है, पर यदि बुद्धि उसे अपना मित्र मान ले, तब उसको घर से निकालने का प्रश्न कहाँ? यदि हम अपने घर में आगन्तुक व्यक्ति को शत्रु समझें, तब वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, हम उसको निकाल बाहर करने का निरन्तर उपाय खोजते रहेंगे और उसे खदेड़कर ही दम लेंगे। पर यदि उसे अपना मित्र मान लें, तब उसे निकालना तो दूर रहा, यदि हमें लगा कि वह अपुष्ट है, दुर्बल है, तो हम उसे पोषण देंगे और उसके बल को बढ़ाने की चेष्टा करेंगे। बुद्धि में जब काम अपना घर बनाता है, तब बुद्धि उसे अपना मित्र समझकर ही स्थान देती है।

आजकल ऐसे अनेक लोग हैं, जो काम को बौद्धिक स्वीकृति देकर साधना के नाम पर विषय-भोगों का समर्थन करते हैं। उनके लिए मैथुन-सुख समाधि का पर्याय बन जाता है। यही काम द्वारा ज्ञान को आवृत कर लेना है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अपने अनुकूल बनाकर काम देहाभिमानी जीव के ज्ञान को ढक लेता है और उसे मोहित कर देता है। तब उसे विषय-भोग ही जीवन का परम प्रयोजन मालूम पड़ने लगता है। यह सबसे संकट की स्थिति है। काम एक रोग है, और वह

तभी दूर किया जा सकता है, जब उसे रोग माना जाय। पर यदि कोई व्यक्ति बुद्धि के द्वारा रोग का समर्थन करे और कह कि नहीं, यह रोग नहीं है, तब तो उसमें रोग के नाश की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। काम जब तक मन में रहता है, हम मन से विषय-भोगों का चिन्तन तो करते हैं, पर हमें यह बोध रहता है कि यह ठीक नहीं है। हम जानते हैं कि यह मन की अस्वस्थता का लक्षण है। और हम उस अस्वस्थता को दूर करने की चेष्टा करते हैं। पर जब काम बुद्धि में प्रवेश कर जाता है, तब विषय-भोगों का चिन्तन हमें स्वाभाविक लगने लगता है। ऐसी अवस्था में काम इन्द्रिय-मन-बुद्धि को इस प्रकार भरमा देता है कि वे काम की भयंकरता को न देख उसकी मोहकता में फँस जाते हैं और अन्ततोगत्वा जीवात्मा की दुर्गति कर देते हैं। इसलिए काम को दूर करना अनिवार्य है। पर यह तभी हो सकता है, जब उसे इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अलग किया जाय। यह कैसे साधित किया जाता है इसकी चर्चा अगले श्लोकों में की गयी है।

रामकृष्ण-संघ-प्रतीक-महिमा

स्वामी ब्रह्मस्थानन्द

(रामकृष्ण मठ, हैदराबाद)

रामकृष्ण का संघ चिरन्तन,
इस युग में जो प्रगट हुआ है।
प्रतीक संघ का है मनोरम,
स्वामीजी* ने हमें दिया है।
सब योगों का योग्य समागम
परम अलौकिक प्राप्त हुआ है ॥
सत्यं शिवं सुन्दरं, सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥ १ ॥

नीर-राशि की प्रबल तरंगें
कर्म-प्रबलता दिखलाती हैं।
यज्ञ-कर्म की दिव्य प्रेरणा
कर्मयोग को दर्शाती है।
कर्मयोग की पावन गंगा
जीवन धन्य बना देती है ॥
सत्यं शिवं सुन्दरं, सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥ २ ॥

---

* स्वामी विवेकानन्द

उसमें विकसित रक्त कमल जो,
है वह भक्ति-प्रतीक महान्।
हृदय-कमल में जो सबके हैं
शुद्ध, सनातन वे भगवान् ।
उनकी भक्ति और सेवा कर,
पाते हैं आनन्द महान् ॥
सत्यं शिव सुन्दरं, सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥ ३ ॥

उदयोन्मुख बिम्बार्ध अरुण का
आभा अपनी है फैलाता ।
वह प्रतीक है ज्ञानयोग का,
हृदयाकाश प्रकाशित करता ।
सबके भीतर है अविनाशी
ज्ञानसूर्य अज्ञान मिटाता ॥
सत्यं शिवं सुन्दरं, सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥ ४ ॥

नागराज जो घेरे सबको
पड़े हुए हैं वर्तुलाकृति ।
उत्थित जाग्रत् कुण्डलिनी यह,
राजयोग ही की है शक्ति ।
त्याग, यम, नियम, ध्यानयोग से
कर लो तुम समाधि की प्राप्ति ॥
सत्यं शिवं सुन्दरं, सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥ ५ ॥

इसी बीच जो हंस विराजित
　　अपनी महिमा है दर्शाता।
परमात्मा का प्रतीक यह सत्-
　　चिदानन्द का बोध कराता।
'तन्नो हंसः प्रचोदयात्' यह
　　मन्त्र हृदय में झंकृत होता॥
सत्यं शिवं सुन्दरं, सत्यं शिवं सुन्दरम्॥ ६॥

ईश-कृपा से प्राप्त हुआ है
　　यह शुभ संघ-प्रतीक महान्।
हम पर भी हो प्रभु की करुणा,
　　सब योगों की हो पहचान।
'आत्ममोक्ष और जगद्धितार्थ'
　　प्रभु का संघ हुआ निर्माण॥
सत्यं शिवं सुन्दरं, सत्यं शिवं सुन्दरम्॥ ७॥

सब योगों के परम अधीश्वर
　　रामकृष्ण इस युग में आते।
उनमें भक्ति-भाव जो रखते
　　सब योगों को वे अपनाते।
इन योगों के साधन से ही
　　परमात्मा के दर्शन पाते॥
सत्यं शिवं सुन्दरं, सत्यं शिवं सुन्दरम्॥ ८॥

सत्संग सुधा

स्वामी माधवानन्द

(स्वामी माधवानन्दजी रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के ४–८–१९६२ से अपने जीवन के अन्तिम दिन ६–१०–१९६५ तक अध्यक्ष रहे। विभिन्न स्थानों पर हुए सत्संग में उहोंने भक्तों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के जो उत्तर दिये, उनमें से कुछ को यहाँ पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित कर रहे हैं। इसके प्रेषक हैं स्वामी शशांकानन्द, जो सम्प्रति बेलुड़ मठ में ग्रामीण विकास विभाग में कार्यरत हैं।––स०)

स्थान: लखनऊ **दिनांक : २७–१०–१९६३**

सच्चिदानन्द ही गुरु; मिशन की सेवा गुरु–सेवा

शिष्य–महाराज, मैंने शिशुकाल से ही सुना है, 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥' और आप मेरे––

महाराज– इसका अर्थ है कि केवल सच्चिदानन्द ही गुरु हैं। मैं गुरु नहीं। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। एक यंत्र की भाँति वह मंत्र तुम तक पहुँचाने का कार्य मेंने किया। यह तो कोई भी कर सकता था।

शि०– पर महाराज, मैं तो इसी यंत्र का ऋणी हूँ। इसी को सच्चिदानन्द गुरु से अभिन्न जानता हूँ। इसकी सेवा करने की मेरी तीव्र इच्छा है।

म०– जब मिशन में आ गये हो तो यही गुरु-सेवा है। मिशन का कार्य ही गुरु-कार्य है।

ईश्वर किन आँखों से दीखेंगे

शि०– महाराज, ध्यान में बैठते समय जब ध्यान अच्छा होता है, तब देखता हूँ कभी शरीर हल्का तो कभी

भारी, कभी छोटा तो कभी खूब बड़ा अनुभव होता है।

म०– यह सब भावुकता है। भावुकता के साथ विचार (rationality) का सन्तुलन होना चाहिए। भावुकता की अधिकता अच्छी नहीं।

शि०– महाराज, दो-एक वर्ष से बहुत परेशान था। ध्यान में बैठने पर कभी कभी एक–दो मिनट बाद ही हाथ-पाँव भड़कने लगते थे और हृदय इतना बेचैन हो जाता था कि लगता था उठकर कहीं भाग जाऊँ। दीक्षोपरान्त वैसा नहीं हो रहा।

म०– जो बीत गया सो बीत गया। अब (दीक्षा के उपरान्त) साधन-भजन में ऐसा विघ्न आ ही कैसे सकता है?

शि०– महाराज, क्या प्रभु को इन आँखों से देख पाऊँगा?

म०– प्रभु को देखोगे अवश्य, परन्तु इन आँखों से नहीं। उसके लिए और आँखे होंगी। दर्शनादि हुए यह बताना न पड़ेगा, वह शक्ल ही और होगी। वे आँखें और ही होंगी, जिन्होंने प्रभु-दर्शन किये हों। सब कुछ मंत्र-जाप से ही होगा। प्रभु में विश्वास रखो, मंत्र में विश्वास रखो। बस, सब कुछ हो जायगा।

शि०– महाराज, ध्यान करना कठिन लगता है।

[म०– ध्यान कठिन है, किन्तु जाप से सब हो जायगा। ध्यान भी स्वतः लगने लगेगा।

स्थान : देहली   दिनांक : ३०-३-१९६४

जप, ध्यान ओर प्रार्थना

शि०– महाराज, जप-ध्यान ग्रौर प्रार्थना कैसे करूँ?

म०– जप के साथ साथ तुम अपने हृदय में इष्ट-मूर्ति या इष्टदेवता का ध्यान कर सकते हो। किन्तु यदि यह कठिन हो तो पहले भगवन्नाम का जप करो और फिर ध्यान।

"हम क्षणिक, अस्थायी वस्तुओं के लाभ के लिए प्रार्थना करते रहते हैं, पर हमें सर्वश्रेष्ठ के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' का पाठ नित्य करो और कुछ न कुछ पढ़ने का नियम बना लो। श्री रामकृष्णदेव कहते थे, 'मैं अपना कर्तव्य करता जाऊँगा, शेष सब प्रभु-कृपा पर निर्भर है'।"

(श्री सारदा महिला समिति की कुछ स्त्रियाँ आयी हुई थीं। दस मिनट के लगभग चुप रहने पर महाराज ने स्वयं ही प्रश्न आरम्भ किया)

म०– तुम सब क्या करती हो?

एक स्त्री– हम अस्पतालों में कुछ सेवा करती हैं।

म०– यह एक नया सिद्धान्त है। प्रभु का वास मानव में है—दरिद्र और रोगी में है। यदि इस भाव से तुम उनकी सेवा करो, तो अवश्य ही तुम्हारी निज की तृप्ति होगी।

स्थान : श्री वृन्दावन दिनांक : १-४-१९६४

सावधान

एक ब्रह्मचारी— महाराज, हम यहाँ सेवा का कार्य करते हैं। यहाँ स्त्री-रोगी और नर्सें आदि भी हैं। तब साधु-जीवन कैसे बिताएँ ?

म०— नारी के सम्बन्ध में चिन्तन मत करो और जब कभी कोई विचार मन में आवे, तभी प्रभु से प्रार्थना करो कि वे तुम्हारे मन से इस विचार को निकाल दें। प्रार्थना में बल है। विश्वास करो यह बाधा हट जाएगी। प्रभु से प्रार्थना करो कि तुम्हें सत्य का पथ दिखावें।

"फिर, तुम्हें विचार के द्वारा भी इसको हटाना होगा। विचार करना होगा कि तुम साधु बने हो, अतः तुम्हारा मन कामिनी-कांचन की ओर क्यों जाए ? यह तो ठीक पथ नहीं, इसको छोड़ना ही धर्म है।"

स्थान : देहली दिनांक : ४-४-१९६४

ध्यान

शि०—महाराज, ध्यान के समय जब साँस सूक्ष्म हो जाती है तथा इष्टमूर्ति स्पष्टतर होती जाती है, तब एक अपूर्व आनन्द मिलता है। तब मैं इसी आनन्द में मग्न हो जाता हूँ, प्रभु-चिन्तन छूट जाता है।

म०—उस आनन्द का त्याग कर पुनः अपने मन को इष्टदेव में प्रतिष्ठित करो। कुछ अभ्यास करने से सब ठीक हो जायगा।

शि०–यदि ध्यानावस्था में इष्टदेव के स्थान पर अन्य देवता आएँ तो मुझे क्या करना चाहिए ?

म०–प्राय: कौन कौन देवता आते हैं ?

शि०– –– और –– ।

म०–तब विचार करो कि यह देवता तुम्हारे इष्टदेव को छोड़कर और कोई नहीं है। तब कोई कठिनाई न होगी । अपने इष्ट को ही सभी देवताओं में देखो ।

शि०–महाराज, कभी कभी तो ध्यान खूब गहरा जमता है और कभी कभी मन बिलकुल भी नहीं लगता ।

म०––हाँ ! ध्यान सदा ही गहरा नहीं होगा । ध्यान कठिन होता है, किन्तु अभ्यास से गहरे ध्यान की अवधि बढ़ती जाएगी । जैसे एक चित्रकार बड़ी कुशलता से एक चित्र को अंकित करते समय एक एक अंग को शनै: शनै: बनाता है, वैसे ही तुम्हें प्रभु का चित्र अपने हृदय में अंकित करना होगा । जिसका चित्र अंकित करना है, उसे जितना देखोगे, उतना ही चित्र बढ़िया अंकित होगा । वैसे ही प्रभु-बिग्रह या प्रभु-प्रतिमा को जितना ही देखोगे, प्रभु की छबि तुम्हारे हृदय में उतनी ही स्पष्ट अंकित होगी ।

शि०––महाराज, साधारणतया मैं कार्य को पूजा मानने की चेष्टा करता हूँ, फिर भी बार बार सन्देह होता है कि इस कर्म से ईश्वर-लाभ होगा या नहीं ?

म०--हाँ ! बीते युगों में यह धारणा थी कि केवल ध्यान-तपस्या से ही ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है, परन्तु अब स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने मानव-देह में ईश्वर-पूजा करने की दीक्षा दी है। जो भी कार्य तुम करते हो, यहाँ तक कि हाथ-पाँव का हिलाना भी, यदि इस भाव से करो तो पूजा हो जाएगा। बात केवल यही है कि तुम्हें इस युक्ति में पूर्ण विश्वास होना चाहिए।

साधु-जीवन में बाधा

शि०--महाराज, साधु-जीवन में क्या क्या बाधाएँ आती हैं तथा उन्हें कैसे पार किया जाय ?

म०--अहं और इन्द्रिय-सुख दो मुख्य बाधाएं हैं। इन्द्रिय-सुख का विशेष तात्पर्य है कामभाव से। यह कामभाव नहीं आना चाहिए। एक बार एक साधु ने इसी कारण आत्महत्या कर ली थी।

"इस भाव से बचने का उपाय है ईश्वर से प्रार्थना और विवेक-ज्ञान। प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे तुम्हें शक्ति दें और इन विक्षिप्त विचारों से तुम्हारी रक्षा करें। अपने मन में विचार करो कि तुमने जब साधु-जीवन को अंगीकार किया है, तब तुम इन्द्रिय-सुख में क्यों बहोगे, तुम्हें तो इन्द्रियातीत की प्राप्ति करनी है।"

रामकृष्ण मिशन स्टूडेन्ट्स होम मद्रास

१९८१-८२ का संक्षिप्त प्रतिवेदन

मद्रास का यह 'स्टूडेन्ट्स होम' (विद्यार्थी गृह) दक्षिण भारत में रामकृष्ण मिशन की अग्रणी पारोपकारिक संस्थाओं में से है। उसका प्रारम्भ भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्य स्वामी श्रीरामकृष्णानन्दजी की प्रेरणा से तथा उनके मार्गदर्शन में सन् १९०५ में हुआ था। 'त्याग' और 'सेवा' ये रामकृष्ण मिशन के द्विविध आदर्श हैं। इनमें सेवा के आदर्श का अनुसरण करते हुए निर्धन और मेधावी छात्रों को निःशुल्क आवास और भोजन की सुविधा प्रदान करने के लिए तथा 'गुरुकुल'-प्रणाली द्वारा उनकी शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए यह संस्था आरम्भ की गयी।

वर्तमान में इस 'विद्यार्थी गृह' के अन्तर्गत निम्नलिखित संस्थाएँ चल रही हैं-- (१) आवासीय हाई स्कूल, (२) आवासीय टेकनिकल इंस्टीट्यूट, (३) श्री रामकृष्ण सेंटिनरी प्रायमरी स्कूल, मयलापुर एवं (४) मल्लियनकरणै (तह० – उत्तिरामरूर, जि० – चिंगलपेट) में माध्यमिक शाला, जिसके साथ हरिजन एवं जनजातियों के बालकों के लिए छात्रावास संलग्न है।

'स्टूडेन्ट्स होम' के दो विभाग हैं -- कनिष्ठ और वरिष्ठ। कनिष्ठ विभाग में आवासीय हाई स्कूल के २०३ विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था है। इसके वरिष्ठ विभाग में 'होम' द्वारा संचालित आवासीय टेकनिकल इंस्टीट्यूट के १२४ विद्यार्थियों के निवास का प्रबन्ध है; साथ ही रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द कालेज के कुछ निर्धन छात्र भी इसमें रहते हैं। इस प्रकार इस

'होम' में लगभग ३५० विद्यार्थी निःशुल्क निवास और भोजन की सुविधा प्राप्त करते हैं।

ए. एम. आई. ई. कोर्स:--'होम' के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर जब उसका प्लैटिनम ज्यूबिली समारोह मनाया गया, उस अवसर पर यह निश्चय किया गया कि टेकनिकल इंस्टीट्यूट के पुराने छात्रों के लाभार्थ एक सायंकालीन ए. एम. आई. ई. कोर्स चलाया जाए। तदनुसार फरवरी १९८२ से उसका शुभारम्भ किया गया है।

इस संस्था को नगद या वस्तु की किसी भी प्रकार की सहायता 'सचिव, रामकृष्ण मिशन स्टूडेन्ट्स होम, ९२ सुलीवन्स गार्डन रोड, मयलापुर, मद्रास – ६०००४' के पते पर भेजी जा सकती है। संस्था को दिये गये दान आय-कर से मुक्त हैं।

०

एजेन्टों को विशेष सूचना

'विवेक-ज्योति' पत्रिका के एजेन्टों के लिए निम्नलिखित सुविधाएँ हैं :-- (अपना पता साफ अक्षरों में लिखें)

अ) एक अंक की कम से कम १० प्रतियाँ मँगाने पर भेजने का खर्च 'विवेक-ज्योति कार्यालय' वहन करेगा।

ब) १० से २० प्रतियाँ मँगाने पर कुल मूल्य पर २० प्रतिशत की छूट दी जायगी।

स) २० से अधिक प्रतियाँ मँगाने पर कुल मूल्य पर २५ प्रतिशत की छूट दी जायगी।

द) ५० से अधिक प्रतियाँ मँगाने पर एक विशेष सुविधा यह रहेगी कि जो प्रतियाँ न बिकी रहेंगी पर बिलकुल नयी-सी रहेंगी, उनके बदले नये अंक की उतनी ही प्रतियाँ उन्हें भेज दी जाएंगी। उन पत्रिकाओं को वापस भेजने का डाक-व्यय एजेन्ट का होगा।